BA(HINDI) **DSE-III**

प्रेमचंद

DDCE

Education for All

DIRECTORATE OF DISTANCE AND CONTINUING EDUCATION

Utkal University , Bhubaneswar – 7 , Odisha

Email: helpline@ddceutkal.ac.in

Website: www.ddceutkal.ac.in

© Directorate of Distance & Continuing Education, Utkal University, VaniVihar, Bhubaneswar - 751007 The study material is developed exclusively for the use of the students admitted under DDCE, Utkal University. The contents are collected from different books/materials available in the market and matched to the syllabus of MCA programme for better understanding by the students of DDCE .

DISCLAIMER

This document does not claim any originality and cannot be used as a substitute for prescribed textbooks. The informationpresented here is merely a collection to be used as self learning material. Various sources as well as freely available material from internet were collected and complied for preparing this document. The ownership of the information lies with the respective authors or institutions.

Name of the Study Material:

प्रेमचंद

Collected , Compiled and Edited
By
DDCE, Utkal University

Year of Print:

No. of Copies: ******

Printed and Published by:
For: Directorate of Distance & Continuing Education (DDCE),
Utkal University,Bhubaneswar – 751007
Website : www.ddceutkal.ac.in

DIRECTORATE OF DISTANCE & CONTINUING EDUCATION UTKAL UNIVERSITY : VANI VIHAR BHUBANESWAR:-751007.

From the Director's Desk

The Directorate of Distance & Continuing Education, originally established as the University Evening College way back in 1962 has travelled a long way in the last 52 years. 'EDUCATION FOR ALL' is our motto. Increasingly the Open and Distance Learning institutions are aspiring to provide education for anyone, anytime and anywhere. DDCE, Utkal University has been constantly striving to rise up to the challenges of Open Distance Learning system. Nearly ninety thousand students have passed through the portals of this great temple of learning. We may not have numerous great tales of outstanding academic achievements but we have great tales of success in life, of recovering lost opportunities, tremendous satisfaction in life, turning points in career and those who feel that without us they would not be where they are today. There are also flashes when our students figure in best ten in their honours subjects. In 2014 we have as many as fifteen students within top ten of honours merit list of Education, Sanskrit, English and Public Administration, Accounting and Management Honours. Our students must be free from despair and negative attitude. They must be enthusiastic, full of energy and confident of their future. To meet the needs of quality enhancement and to address the quality concerns of our stake holders over the years, we are switching over to self instructional material printed courseware. Now we have entered into public private partnership to bring out quality SIM pattern courseware. Leading publishers have come forward to share their expertise with us. A number of reputed authors have now prepared the courseware. Self Instructional Material in printed book format continues to be the core learning material for distance learners. We are sure that students would go beyond the course ware provided by us. We are aware that most of you are working and have also family responsibility. Please remember that only a busy person has time for everything and a lazy person has none. We are sure you will be able to chalk out a well planned programme to study the courseware. By choosing to pursue a course in distance mode, you have made a commitment for self improvement and acquiring higher educational qualification. You should rise up to your commitment. Every student must go beyond the standard books and self instructional course material. You should read number of books and use ICT learning resources like the internet, television and radio programmes etc. As only limited number of classes will be held, a student should come to the personal contact programme (PCP) well prepared. The PCP should be used for clarification of doubt and counseling. This can only happen if you read the course material before PCP. You can always mail your feedback on the course ware to us. It is very important that you discuss the contents of the course materials with other fellow learners.

We wish you happy reading.

DIRECTOR

प्रेमचन्द का जीवन

प्रेमचन्द हिन्दुस्तान की नई राष्ट्रीय और जनवादी चेतना के प्रतिनिधि साहित्यकार थे। जब उन्होंने लिखना शुरू किया था, तब संसार पर पहले महा युद्ध के बादल मँडरा रहे थे। जब मौत ने उनके हाथ से कलम छीन ली, तब दूसरे महायुद्ध की तैयारियाँ हो रही थीं। इस बीच विश्व-मानव-संस्कृति में बहुत से परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों से हिन्दुस्तान भी प्रभावित हुआ और उसने उन परिवर्तनों में सहायता भी की। विराट् मानव-संस्कृति की धारा में भारतीय जन-संस्कृति की गंगा ने जो कुछ दिया, उसके प्रमाण प्रेमचन्द के लगभग एक दर्जन उपन्यास और कहानियाँ हैं।

करोड़ों मनुष्यों का संहार करने वाले दो महायुद्धों के बीच प्रेमचन्द की वाणी अपने भविष्य में अटल विश्वास रखने वाली भारतीय जनता की वाणी है। राजनीतिज्ञों के कोलाहल और तोपों की गड़गड़ाहट को भेदती हुई वह वाणी आज और भी स्पष्ट सुनाई देती है। तमाम कठिनाइयों और बाधाओं को पार करती हुई भारतीय जनता से प्रेमचन्द कहते हैं—"यह अन्त नहीं है; और आगे बढ़ो, और आगे बढ़ो जब तक कि रंगभूमि में विजय न हो, जब तक कि देश का कायाकल्प न हो, जब तक कि इस कर्मभूमि में गबन और गोदान से होरी और रंगनाथ का अन्त होना बन्द न हो और हमारा देश एक नई तरह का सेवा सदन, एक नई तरह का प्रेमाश्रम न बन जाय।"

आज से सत्तर-बहत्तर साल पहले सन् १८८० में बनारस के पास लमही गाँव में प्रेमचन्द एक किसान के घर पैदा हुए थे। बहुत से ग़रीब किसानों की तरह उनके पिता का गुज़ारा किसानी से न हुआ और उन्होंने नौकरी कर ली

जब प्रेमचन्द का जन्म हुआ, तब इनके पिता को बीस रुपये तनख्वाह मिलती थी। जब वह सात साल के थे, तभी उनकी माता का स्वर्गवास हो गया। जब पन्द्रह साल के हुए तब उनकी शादी कर दी गई और सोलह साल के होने पर उनके पिता का भी देहान्त हो गया। जैसा कि लोग कहते हैं, लड़कों की यह उम्र खेलने-खाने की होती है लेकिन प्रेमचन्द को तभी से घर संभालने की चिन्ता करनी पड़ी। तब वह नवें दर्जे में पढ़ते थे और उनकी गृहस्थी में दो सौतेले भाई, सौतेली माँ और खुद उनकी स्त्री थीं। क्रिया-कर्मों में साधारण आदमी को किस तरह ठगा जाता है, इसका कड़वा अनुभव प्रेमचन्द को लड़कपन ही में हो गया। सौतेली माँ का व्यवहार, बचपन की शादी, पंडे-पुरोहितों का कर्मकाण्ड, किसानों और क्लर्कों का दुखी जीवन—यह सब प्रेमचन्द ने सोलह साल की उम्र ही में देख लिया था। इसीलिए उनके ये अनुभव एक जबर्दस्त सचाई लिये हुए उनके कथा-साहित्य में झलक उठे थे।

उन दिनों नाज बीस सेर का था लेकिन तब के लिए यह महँगी थी। प्रेमचन्द गाँव में रहते थे; ट्यूशन करते थे। शहर पढ़ने जाते थे और पाँच मील वापस आकर रात को कुप्पी जलाकर खुद पढ़ने बैठते थे। हाई स्कूल पास करने के बाद कॉलिज में वह तभी भर्ती हो सकते थे जब उनकी फीस माफ़ हो जाय और इसके लिये सिफ़ारिशों की जरूरत थी। इसी समय मेहनत से चूर होकर वह बीमार पड़ गए और दो हफ्ते तक नीम का काढ़ा पीते रहे। बड़ी मुश्किल से कॉलिज में भर्ती हुए और जैसे-तैसे पढ़ाई जारी रखी, लेकिन हिसाब में दो बार फेल हुए। तब इंटरमीडिएट में गणित ऐच्छिक विषय न था।

प्रेमचन्द अब शहर में रहने लगे। पाँच रुपये का ट्यूशन किया। एक वकील के लड़के को पढ़ाते थे और उसीके अस्तबल के ऊपर एक कच्ची कोठरी में रहा करते थे। खुद खाना पकाते थे, बर्तन धोते थे और उपन्यास पढ़ते थे। कहानियाँ और उपन्यास पढ़ने का चस्का उन्हें शायद पहले ही लग चुका था। श्री रघुपति सहाय 'फिराक' ने लिखा है कि उनकी दोस्ती अपने एक ऐसे सहपाठी से हो गई थी जिसका बाप तमाखू बेचता था। तमाखू के पिण्डों के

पीछे जमकर दोनों दोस्त हुक्का पीते थे और 'तिलिस्म होशरुबा' पढ़ते थे जिसे उर्दू का 'चन्द्रकान्ता' और 'भूतनाथ' समझना चाहिए। १३ साल की उम्र ही में प्रेमचन्द ने रतननाथ 'सरशार', मिरज़ा रुसवा और मौलाना शरर के उपन्यासों से परिचय प्राप्त कर लिया था। गोरखपुर के बुद्धिलाल बुकसेलर से कुंजियाँ और नोट्स लेकर वह अपने स्कूल के लड़कों को बेचा करते थे और इसके बदले उसकी दुकान पर उपन्यास पढ़ा करते थे। उर्दू में पुराणों के जो अनुवाद छपे थे, वह भी उन्होंने पढ़ डाले थे। प्रेमचन्द में पढ़ने का बेहद चाव था। पढ़ने के रास्ते में जितनी ही ज़्यादा कठिनाइयाँ आईं, उतना ही पढ़ने के लिए उनका चाव और बढ़ गया। वह कितना पढ़ते थे, इसका अन्दाज़ 'तिलिस्म होशरुबा' के आकार-प्रकार का ध्यान करने से लग जाता है। इसके बारे में उन्होंने खुद लिखा है—"इस वृहद् तिलिस्मी ग्रन्थ के १७ भाग उस वक्त निकल चुके थे और एक-एक भाग बड़े सुपर रायल के आकार के दो-दो हजार पृष्ठों से कम न होगा। और इन १७ भागों के उपरान्त उसी पुस्तक के अलग-अलग प्रसंगों पर पचासों भाग छप चुके थे।" ('मेरी पहली रचना')।

ये उपन्यास प्रेमचन्द के दुखी बचपन के साथी थे। वे मुसीबतों में उन्हें ढाढ़स बँधाते थे और कुछ देर के लिए उन्हें ट्यूशनों, सौतेली माँओं और महाजनों की दुनिया से दूर उठा ले जाते थे। इन्हें पढ़ने से उनकी कल्पना-शक्ति प्रखर हुई और खुद भी लिखने की उन्हें प्रेरणा मिली। लेकिन प्रेमचन्द ने 'तिलिस्मी होशरुबा' का रास्ता नहीं अपनाया। उनकी रचनाएँ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट और राधाकृष्णदास के कथा-साहित्य का अगला और स्वाभाविक कदम थीं।

स्कूल में पढ़ते हुए कर्ज़ लेने और महाजनों की निगाह बचाने का अनुभव भी प्रेमचन्द को हुआ। एक दर्ज़ी से कपड़े बनवाये थे। उसे दो-ढाई रुपये की रकम भुगताने में तीन साल लग गए। एक बेलदार उनसे हिन्दी पढ़ा करता था। उससे उन्होंने आठ आने पैसे उधार लिये थे, जो उसने पाँच साल बाद उनके गाँव पहुँचकर वसूल किए।

प्रेमचन्द ने बेलदार को हिन्दी पढ़ाने का जिक्र अपने स्कूली जीवन के सिलसिले में किया है जिससे मालूम होता है कि उन्होंने तब हिन्दी का अभ्यास भी कर लिया था। उनका वह जीवन हिन्दुस्तान के औसत गरीब विद्यार्थी का जीवन था। एक बार महाजन से उधार न मिलने पर सिर्फ़ रोटी का प्रबंध करने के लिए उन्हें अपनी किताबें तक बेचनी पड़ी थीं। इसका मार्मिक वर्णन उन्होंने इस तरह किया है—"जाड़ों के दिन थे। पास एक कौड़ी न थी। दो दिन एक-एक पैसे का चाकर काटे थे। मेरे महाजन ने उधार देने से इन्कार कर दिया था। संकोचवश मैं उससे माँग न सका था। चिराग़ जल चुके थे। मैं एक बुकसेलर की दूकान पर एक किताब बेचने गया। एक गबरगीं-नाफ़ित-कुंबी दो साल हुए खरीदी थी, अब तक उसे बड़े जतन से रखे हुए था; पर आज चारों ओर से निराश होकर मैंने उसे बेचने का निश्चय किया। किताब दो रुपये की थी; लेकिन एक रुपये पर सौदा ठीक हुआ।"

('जीवन-सार')।

यह १९ वीं सदी का आखिरी साल था। किताब बेचते हुए उनकी मुलाक़ात एक मामूली स्कूल के हेडमास्टर से हो गई जिसने अठारह रुपये पर इन्हें अपने यहां मास्टर रख लिया। इस तरह प्रेमचन्द ने बीसवीं सदी में प्रवेश किया।

१९०४ में उन्होंने उर्दू-हिन्दी में ओरियंटल इलाहाबाद यूनिवर्सिटी का स्पेशल वर्नाक्युलर इम्तहान पास किया। इसके बाद १९०५ में ट्रेनिंग कालेज से पढ़ाने की सनद पाई। उनके सर्टीफिकेट पर खास तौर से लिख दिया गया था कि वह हिसाब पढ़ाने के अयोग्य है—"Not qualified to teach Mathematics"। १९१० में उन्होंने अंग्रेजी, दर्शन, फ़ारसी और इतिहास लेकर इंटर किया और १९१९ में अंग्रेजी, फारसी और इतिहास लेकर बी. ए. किया। प्रेमचन्द को जहाँ वास्तविक शिक्षा मिली, वे विश्वविद्यालय दूसरे ही थे। उनके अध्यापक लमही के किसान, बनारस के महाजन और किताबों के नोट्स बिकवानेवाले बुकसेलर थे। उनकी टेक्स्ट-बुक्स वे सैकड़ों उपन्यास थे जो उन्होंने लाइब्रेरियों, बुकसेलरों की दूकानों

और तमासू वाले दोस्त के घर पर पड़े थे। भले ही वह गणित पढ़ने के योग्य न रहे हों, वह हिन्दुस्तानी समाज का बीज गणित अच्छी तरह समझ गए थे और अपने उपन्यासों में बहुत से प्रश्न हल करने की तैयारी भी कर चुके थे।

प्रेमचन्द ने औसत गरीब विद्यार्थी की जिन्दगी देखी थी तो उन्होंने औसत गरीब अध्यापक की जिन्दगी को भी अच्छी तरह देखा।

गोरखपुर, कानपुर, बनारस आदि कई जगह रहकर प्रेमचन्द ने अध्यापक का काम किया। वह अपने में मस्त रहने वाले शिक्षक थे जो लड़कों से बेहद प्रेम करते थे और हेडमास्टरों, इन्स्पेक्टरों वगैरह की परवाह न करते थे। गोरखपुर के स्कूल में इन्स्पेक्टर के आने पर सभी लोग साफ़-सूट पहनकर आये थे, लेकिन अपने एक शिष्य के अनुसार प्रेमचन्द का हुलिया यह था—"नंगे सिर, बाल परेशान, कोट का कालर खुला हुआ।"

प्रेमचन्द ने डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के सब इन्स्पेक्टर की हैसियत से छः साल महोबे में बिताये और उसके बाद तीन साल तक उन्होंने बस्ती के सरकारी स्कूलों में मास्टरी की। इन दो जगहों का रहना उनके जीवन में काफी महत्व रखता है। इस तरह उन्हें पूर्वी और पश्चिमी हिन्द प्रदेश का, जहाँ की जनता बेहद गरीब है, अच्छा ज्ञान हो गया। इसीलिए जब प्रेमचन्द पांडेपुर के किसानों का चित्रण करते हैं तो हम उनमें समूचे हिन्द प्रदेश के गरीब किसानों के दर्शन करते हैं।

प्रेमचन्द ने अपना साहित्यिक जीवन एक उपन्यासकार और आलोचक की हैसियत से शुरू किया था। मुंशी दयानारायन निगम के अनुसार उन्होंने १९०५ में उर्दू पत्र 'जमाना' के लिए एक आलोचनात्मक लेख भेजा था और उनकी राय जानने के लिए उन्हें एक उपन्यास का मसौदा भी भेजा था। प्रेमचन्द ने अपनी पहली रचनाओं के बारे में लिखा है कि १९०१ में उन्होंने उपन्यास लिखना शुरू किया था। उनका एक उपन्यास १९०१ में प्रकाशित हुआ और दूसरा १९०४ में। प्रेमचन्द ने रवीन्द्रनाथ की कहानियों का अनुवाद भी किया था और खुद १९०७ से कहानियाँ लिखना शुरू किया। उनकी शुरू की कहानियाँ 'जमाना' में छपीं।

और तमासू वाले दोस्त के घर पर पड़े थे। भले ही वह गणित पढ़ने के योग्य न रहे हों, वह हिन्दुस्तानी समाज का बीज गणित अच्छी तरह समझ गए थे और अपने उपन्यासों में बहुत से प्रश्न हल करने की तैयारी भी कर चुके थे।

प्रेमचन्द ने औसत गरीब विद्यार्थी की जिन्दगी देखी थी तो उन्होंने औसत गरीब अध्यापक की जिन्दगी को भी अच्छी तरह देखा।

गोरखपुर, कानपुर, बनारस आदि कई जगह रहकर प्रेमचन्द ने अध्यापक का काम किया। वह अपने में मस्त रहने वाले शिक्षक थे जो लड़कों से बेहद प्रेम करते थे और हेडमास्टरों, इन्स्पेक्टरों वगैरह की परवाह न करते थे। गोरखपुर के स्कूल में इन्स्पेक्टर के आने पर सभी लोग साफ़-सूट पहनकर आये थे, लेकिन अपने एक शिष्य के अनुसार प्रेमचन्द का हुलिया यह था—"नंगे सिर, बाल परेशान, कोट का कालर खुला हुआ।"

प्रेमचन्द ने डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के सब इन्स्पेक्टर की हैसियत से छः साल महोबे में बिताये और उसके बाद तीन साल तक उन्होंने बस्ती के सरकारी स्कूलों में मास्टरी की। इन दो जगहों का रहना उनके जीवन में काफी महत्व रखता है। इस तरह उन्हें पूर्वी और पश्चिमी हिन्द प्रदेश का, जहाँ की जनता बेहद गरीब है, अच्छा ज्ञान हो गया। इसीलिए जब प्रेमचन्द पांडेपुर के किसानों का चित्रण करते हैं तो हम उनमें समूचे हिन्द प्रदेश के गरीब किसानों के दर्शन करते हैं।

प्रेमचन्द ने अपना साहित्यिक जीवन एक उपन्यासकार और आलोचक की हैसियत से शुरू किया था। मुंशी दयानारायन निगम के अनुसार उन्होंने १९०५ में उर्दू पत्र 'जमाना' के लिए एक आलोचनात्मक लेख भेजा था और उनकी राय जानने के लिए उन्हें एक उपन्यास का मसौदा भी भेजा था। प्रेमचन्द ने अपनी पहली रचनाओं के बारे में लिखा है कि १९०१ में उन्होंने उपन्यास लिखना शुरू किया था। उनका एक उपन्यास १९०१ में प्रकाशित हुआ और दूसरा १९०४ में। प्रेमचन्द ने रवीन्द्रनाथ की कहानियों का अनुवाद भी किया था और खुद १९०७ से कहानियाँ लिखना शुरू किया। उनकी शुरू की कहानियाँ 'जमाना' में छपीं।

भर में जनतंत्र की हिफ़ाजत का ठेका लेने वाले अंग्रेज़ों ने इस तरह भारतीय जनता के सबसे बड़े लेखक की रचनाओं का स्वागत किया !

प्रेमचन्द ने अब नवाबराय नाम छोड़कर प्रेमचन्द नाम से लिखना शुरू किया। जो लोग उर्दू को विदेशी भाषा समझते हैं, उन्हें यह सुनकर दुःख होगा कि 'प्रेमचन्द', यह प्यारा नाम, उन्हें एक उर्दू लेखक और संपादक दयानारायन निगम ने दिया था ।

पाँच-छः साल में नवाबराय के नाम से प्रेमचन्द ने जो ख्याति पाई थी, वह समाप्त हो गई और उन्हें नये सिरे से, एक नया नाम लेकर, साहित्य के मैदान में उतरना पड़ा ।

युद्ध-काल ही में उन्होंने अपना पहला महान् उपन्यास 'सेवा सदन' लिखा और युद्ध खत्म होने पर 'प्रेमाश्रम' पूरा किया। जलियाँवाला बाग के हत्या-काण्ड और असहयोग-आन्दोलन छिड़ने पर प्रेमचन्द ने नौकरी छोड़ दी। यह बीस साल की सरकारी नौकरी थी जिस पर उन्होंने लात मारी थी। इससे कुछ ही साल पहले हिन्दी के एक दूसरे महान् लेखक बालकृष्ण भट्ट ने कॉलेज की प्रोफ़ेसरी से इस्तीफ़ा दिया था। लोकमान्य तिलक के कारावास के विरोध में प्रयाग में सभा हुई थी। बालकृष्ण भट्ट उसके सभापति थे। शिक्षा-विभाग के डायरेक्टर ने उन्हें चेतावनी देने के लिए बुलाया। भट्ट जी ने बिना आगा-पीछा सोचे हुए नौकरी पर लात मार दी। यह घटना १९०७ की है। प्रेमचन्द ने भी हिन्दी-लेखकों की इस स्वाधीनता-प्रेमी परम्परा का अनुसरण किया।

कुछ दिन तक उन्होंने कानपुर के एक स्कूल में अध्यापन-कार्य किया; कुछ दिन तक काशी विद्यापीठ में। 'ज़माना' पत्र में वह सम्पादन-कार्य कर चुके थे। हिन्दी में 'मर्यादा', 'माधुरी', 'जागरण' आदि पत्रों का सम्पादन भी उन्होंने किया। १९२९-३० में वह 'माधुरी' का सम्पादन करते थे। यद्यपि उनके समय की 'माधुरी' ने हिन्दी की अपूर्व सेवा की, फिर भी वह उसे राष्ट्रीय आन्दोलन का साथ देनेवाली नये जनवादी विचारों की समर्थक पत्रिका न बना सकते थे। ऐसी पत्रिका को वह बहुत ज़रूरी

समझते थे; इसीलिए सन् '३० के सविनय अवज्ञा-आन्दोलन के शुरू होते-होते उन्होंने 'हंस' का प्रकाशन भी आरम्भ कर दिया। इस तरह 'हंस' का जन्म स्वाधीनता-आन्दोलन की प्रगति के साथ हुआ और इसीलिए अंग्रेज हुकूमत की कोप-दृष्टि भी उस पर पड़ी। प्रेमचन्द किस बहादुरी से अपने प्रिय पत्र 'हंस' के लिए लड़े थे, इसका पता श्री जैनेन्द्रकुमार को लिखे हुए उनके एक पत्र से लगता है। उन्होंने लिखा था :—"'हंस' पर जमानत लगी। मैंने समझा था आर्डिनेन्स के साथ जमानत भी समाप्त हो जायगी। पर नया आर्डिनेन्स आ गया और उसी के साथ जमानत भी बहाल कर दी गई। जून और जुलाई का अंक हमने छापना शुरू कर दिया है, पर मैनेजर साहब जब नया डिक्लेरेशन देने गए तो मैजिस्ट्रेट ने पत्र जारी करने की आज्ञा न दी, जमानत माँगी। अब मैंने गवर्नमेंट को एक स्टेट-मेंट लिखकर भेजा है। अगर जमानत उठ गई तो पत्रिका तुरन्त ही निकल जायगी। छप, कट, सिलकर तैयार रखी है। अगर आज्ञा न दी तो समस्या टेढ़ी हो जायगी। मेरे पास न रुपया है, न प्रॉमिसरी नोट, न सिक्योरिटी। किसी से कर्ज लेना नहीं चाहता। यह शुरू साल है, चार-पांच सौ वी. पी. आते, कुछ रुपये हाथ आते। लेकिन वह नहीं होना है।"

(प्रेमचन्द-स्मृति-अंक, हंस, मई १९३७)।

सन् '३६ में 'हंस' से फिर जमानत माँगी गई। तब वह हिन्दी-साहित्य परिषद् की देख-रेख में निकलता था। परिषद् ने जमानत देने के बदले पत्र को बन्द कर देना ही अच्छा समझा। प्रेमचन्द ने बीमारी की हालत में भी जमानत देने का प्रबन्ध कराया और पत्र को जिन्दा रखा।

प्रेमचन्द ने 'हंस' को स्वाधीनता-संग्राम का एक सबल सैनिक बना दिया था। उनके जीवन की सबसे सुन्दर उमंगें इस पत्र के साथ जुड़ी हुई थीं। जैनेन्द्रकुमार जी के शब्दों में "'हंस' के समारंभ को लेकर वह उस समय नवयुवक की भाँति अपने को अनुभव करते थे।" (हंस, मई १९३७)

हाथ-पैर हिला सकने में भी असमर्थ जब प्रेमचन्द रोग-शय्या पर पड़े हुए जैनेन्द्र से अपने जीवन की अन्तिम रात में बातें कर रहे थे, तब भी उन्हें

अपने परिवार से ज्यादा 'हंस' का ध्यान था।

"रात के बारह बजे 'हंस' की बात होकर चुकी थी। अपनी आशाएं, अपनी अभिलाषाएँ, कुछ शब्दों से, और अधिक आँखों से, वह उस समय मुझ पर प्रकट कर चुके थे। 'हंस' की और साहित्य की चिन्ता उन्हें तब भी दबाए थी।''' प्रकार-प्रकार की चिन्ता-दुश्चिन्ता उस समय प्रेमचन्दजी के प्राणों पर बोझ डालकर बैठी हुई थी। मैं या कोई उसको उस समय किसी तरह नहीं बटा सकता था। चिन्ता का केन्द्र यही था कि 'हंस' कैसे चलेगा, नहीं चलेगा तो क्या होगा। 'हंस' के लिए सब भी जीने की आस उनके मन में थी और 'हंस' न जियेगा यह कल्पना उन्हें असह्य थी।"

(हंस, उप०)

'हंस' के भावी जीवन की कल्पना करते हुए प्रेमचन्द ने अपनी जीवन-यात्रा समाप्त की।

प्रेमचन्द बड़ी जीवट के आदमी थे। बिना उफ़ किये वह तकलीफें सह सकते थे।

मृत्यु-शय्या पर—"उन्हें नींद न आती थी, तकलीफ़ बेहद थी। पर कराहते न थे, चुपचाप आँख खोलकर पड़े थे।" (जैनेन्द्रकुमार, उप०)

यही प्रेमचन्द कुप्रिन का उपन्यास 'यामा' पढ़ते-पढ़ते बच्चों की तरह फूट-फूटकर रोने लगे थे। वह एक अत्यन्त सहृदय और परदुःख-कातर व्यक्ति थे। उन्होंने जीवन-भर कठिनाइयों का सामना किया, लेकिन अपने मन में उन्होंने कभी कटुता नहीं आने दी। उनके आँसू हृदय में छिपे रहते थे; तरल आँखों में हँसी नाचा करती थी। जिस किसी ने भी उनके संस्मरण लिखे हैं, उसने उनके क़हक़हों का जिक्र अवश्य किया है। प्रेमचन्द ने निराशावादी कवियों की तरह वेदना के गीत नहीं गाये। कठिनाइयों को चुनौती देते हुए उन्होंने उनका मुकाबला किया। मनुष्य में अटूट विश्वास—यह उनके हास्य का स्रोत था।

प्रेमचन्द और नवाबराय—इन नामों को लेकर सुदर्शन जी से उनकी बातचीत इस तरह हुई—

"आपने नवाबराय नाम क्यों छोड़ दिया ?"

"नवाब वह होता है जिसके पास कोई मुल्क भी हो। हमारे पास मुल्क कहाँ ?"

"बे-मुल्क नवाब भी होते हैं।"

"यह कहानी का नाम हो जाय तो बुरा नहीं, मगर अपने लिए यह नाम घमंडपूर्ण है। चार पैसे पास नहीं और नाम नवाबराय। इस नवाबी से प्रेम भला; जिसमें ठण्डक भी है, सन्तोष भी है।" (हंस, मई १९३७)।

प्रेमचन्द का नवाबराय नाम किस तरह छिना था, यह हम ऊपर लिख चुके हैं, लेकिन अपनी मुसीबतों पर हँसते हुए उन्होंने 'नवाब' को निरर्थक ठहराया और 'प्रेम' की ठंडक और सन्तोष का अकाट्य तर्क पेश किया।

प्रेमचन्द का हास्य उनसे मिलने वाले को निःशस्त्र कर देता था—गर्व या संकोच जो भी अस्त्र उसके पास होता, उसे डालना पड़ता। श्री इलाचन्द्र जोशी ने किन्हीं बातों पर प्रेमचन्द का विरोध किया था। उनसे अपने मिलने का हाल जोशी जी ने यों लिखा है—"आरम्भ में उन्होंने कुछ संकोच के साथ बातें अवश्य कीं, पर कुछ ही देर बाद वह ऐसे खुले कि दोनों को ऐसा अनुभव होने लगा जैसे हम लोगों की बड़ी पुरानी मैत्री हो। यह बात प्रेमचन्द जी के हृदय की असाधारण उदारता के कारण ही संभव हुई थी।" (हंस, मई १९३७)।

पहले से अपरिचित एक सज्जन से वह यों मिले :—

"पता लगाकर शाम के वक्त उनके मकान पर पहुंचा। बाहर थोड़ी देर ठहरकर खाँ-खूँ करने पर भी कोई नजर न आया तो दरवाजे पर गया और झाँककर भीतर कमरे में देखा। वहाँ एक आदमी, बड़ी-बड़ी मूँछों के कारण जिसका चेहरा छिपा-सा था, फ़र्श पर बैठकर एकाग्र चित्त से कुछ लिख रहा था। मैंने सोचा कि लेखक श्रेणी का कोई होगा और आगे बढ़कर बोला कि मैं श्रीयुत प्रेमचन्द जी से मिलना चाहता हूँ। उन्होंने झट आँखें उठाकर आश्चर्य से मुझे निहारा, कलम रख दी और मुँह-भर हँसी भरते हुए बोले—'खड़े-खड़े क्या मुलाकात करेंगे ? बैठिए और मुलाकात

कीजिए।"....'हमने करीब दो घंटे तक अनेक विषयों पर बातचीत की। ..... ऐसी बे-तकल्लुफ़ी, ऐसी सादगी, ऐसी सरलता एकदम अप्रतीक्षित थी।" (श्री ए. चन्द्रहासन, 'हंस' मई १९३७)।

इस तरह प्रेमचन्द अपने अपरिचित प्रेमियों का संकोच दूर कर देते थे। काम में बुरी तरह व्यस्त होते हुए भी वह मिलने वालों के लिए, विशेषकर नये लेखकों के लिए, घंटों समय निकाल लेते थे। दक्षिण भारत से चन्द्रहासन आये हैं; लिखना छोड़कर दो घंटे उनसे बातों में गुज़ार दिये। जब तरुण लेखक जैनेन्द्रकुमार से मिले तो "सात बज गए, साढ़े सात बज गए, आठ होने आए, बातों का सिलसिला टूटता ही न था।'''बातों का सिलसिला अभी और चलता लेकिन भीतर से खबर आई कि अभी डॉक्टर के यहां से दवा तक लाकर नहीं रखी गई है, ऐसा हो क्या रहा है! दिन कितना चढ़ गया, क्या इसकी भी खबर नहीं है?

"प्रेमचन्द अप्रत्याशित भाव से उठ खड़े हुए। बोले—ज़रा दवा ले आऊँ जैनेन्द्र! देखो, बातों में कुछ ख्याल ही न रहा।

"कहकर इतने जोर से क़हक़हा लगाकर हँसे कि छत के कोनों में लगे मकड़ी के जाले हिल उठे।" (उप०)

प्रेमचन्द को बातें करने का शौक नहीं था, लेकिन वह किसी भी लेखक और साहित्य-प्रेमी से ऐसे मिलते थे, जैसे कोई सगा मिला हो। बिरादरी का आदमी मिले, फिर जी खोलकर कोई लेखक बात न करे? यही बात प्रेमचन्द के समसामयिक निर्द्वंद कलाकार निराला में भी रही है, जो बातें करने के सिवा अपनी शक्ति-भर, और शक्ति के बाहर भी, साहित्य-प्रेमियों का सत्कार भी करते थे। एक पीड़ित जाति के लेखकों में ऐसा सुहृद्-भाव होना आवश्यक और स्वाभाविक दोनों है।

फ़िरुथ इयर के विद्यार्थी जनार्दन राव ने पहली ही बार उनके दर्शन किये थे लेकिन लगी—"मैंने कहानियाँ निकालीं, उपन्यास का पोथा निकाला और प्रेमचन्द जी के आगे रख दिया और उन्होंने सब काम छोड़कर ये कृतियाँ हाथ में लीं। शायद किसी की कृतियाँ हाथ में लेकर उसे जाँच

पड़ताल के बिना वे नीचे न रखते थे।" (उप०)

प्रेमचन्द से मिलने वालों ने जो संस्मरण लिखे हैं, उनमें अक्सर इस बात का ज़िक्र मिलता है कि प्रेमचन्द बैठे लिख रहे थे। वह सवेरे तो लिखते ही थे, लेकिन काम आ पड़ने पर किसी भी वक़्त कलम चलाते रहते थे। सन् '३४ में जब सुदर्शन जी उनसे मिलने गये तब शाम हो गई थी और प्रेमचन्द लिखते जा रहे थे। लिखने में वह एक मज़दूर की तरह परिश्रम करते थे और जो लोग लिखना बन्द कर देते थे, उन्हें फटकारते भी थे। उन्होंने श्री जनार्दन राय से कहा था—"हिन्दी में आज हमें न पैसे मिलते हैं, न यश मिलता है। दोनों ही नहीं। इस संसार में लेखक को चाहिए, किसी की भी कामना करे बिना लिखता रहे।" (उप०)

इस दृढ़ निश्चय से प्रेमचन्द ने साहित्य-रचना की थी, इसलिए कि वह जानते थे कि भले ही धन और यश न मिले, उनके साहित्य से जनता का हित अवश्य होगा।

प्रेमचन्द पर जिसने भी लिखा है, उनकी सादगी की तारीफ़ किये बिना नहीं रहा। वह एक ऐसे लेखक थे जो हमेशा आगे बढ़ना चाहते थे और कितनी भी बड़ी सफलता पाने पर हाथ पर हाथ रखकर बैठना जिन्होंने सीखा न था। इसलिए उनमें एक महान् लेखक का आत्म-विश्वास था तो वैसी ही नम्रता भी। बनावट उन्हें छू न गई थी। जो भीतर थे, वही बाहर। मन, वचन, कर्म की एकता उनके चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता थी। यही विशेषता उनके उपन्यासों के नायकों में भी मिलती है। जैसा उनका सीधा और सच्चा मन था, वैसा ही सरल उनका जीवन था।

मृत्यु से एक साल पहले जैनेन्द्रकुमार जी ने उन्हें नीम की सींक से दाँत कुरेदते हुए धूप में खाट पर बैठे देखा था जहाँ होली खेलने वालों ने उन्हें रंग से तर कर दिया था। श्री बैजनाथ केडिया ने देखा था, बाहर बरामदे में चटाई पर बैठे कुछ लिख रहे हैं। किसी संस्था के बुलावे पर पटना पहुँचे तो वहाँ वाले सज्जन इन्हें पहचान न सके, क्योंकि उन्होंने जो चित्र उपन्यास-सम्राट् का बना रखा था, प्रेमचन्द उससे बिलकुल भिन्न थे। दूसरे दिन

मुलाकात हान पर उन सज्जन न न पहचान पान का अपना बबसा का जिक्र किया तो उन्होंने कहा—"जब तुम मुझे नहीं पहचानते थे और न मैं तुम्हें, तो प्रेमचन्द कहकर पुकारते। तो इससे मेरी इज्जत थोड़े कम हो जाती।"
(उप० पृष्ठ ९५०)।

प्रेमचन्द नौजवानों के लेखक थे, नई पीढ़ी के लेखक थे। वह साहित्य के सौदागरों से दूर रहते थे; दिखावे और प्रदर्शन से घृणा थी। श्री शान्ति-प्रसाद वर्मा ने इस सिलसिले की एक मनोरंजक घटना का वर्णन किया है। उन्होंने नागपुर स्टेशन के पास प्रेमचन्द को धूप में खड़े तपते हुए देखा। साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन था। प्रेमचन्द उसमें बुलाये गए थे। धूप में इसलिए खड़े थे कि दूसरी गाड़ी आने पर दूसरी सवारियों को भी बिठाकर शहर जायं; अकेले प्रेमचन्द को ले जाने से पैसे ज्यादा खर्च होते। इसके बाद एक दिन जब साहित्य-परिषद् के लिए सभापति न मिल रहा था तब किसी ने आकर कहा कि आप ही सभापति हो जाइए। प्रेमचन्द ने सप्रेम अस्वीकार कर दिया। (प्रेमचन्द : उनकी कृतियाँ और कला; १९४९; पृष्ठ १३४)

एक बार वह दिल्ली साहित्य-सम्मेलन गये थे। वहाँ पर लोगों को शब्दों पर और पदों के लिए झगड़ते देखकर उन्होंने जैनेन्द्रकुमार जी से कहीं ठंडी हवा खाने की इच्छा प्रकट की और सम्मेलन के कर्णधारों के लिए भी यह किया लाभदायक बतलाई। भारतीय साहित्य-परिषद् के काम में उन्होंने काफी भाग लिया था लेकिन उससे भी उन्हें निराशा हुई, कारण कि जिस सेवा-भाव से प्रेमचन्द काम करते थे, शतरंज के खिलाड़ियों में उसका अभाव था। श्री आनन्द कौसल्यायन को उन्होंने भारतीय परिषद् के बारे में लिखा था—"क्या आप समझते हैं, अंग्रेजों की गुलामी से भारतीय परिषद् मुक्त है? जब कांग्रेस की सारी लिखा-पढ़ी अंग्रेजी में होती है, तो भारतीय परिषद् तो उसी का बच्चा है।" ('हंस', मई १९३७; पृष्ठ ८५९)।

हिन्दुस्तान के लेखकों के लिए अभी यह संभव नहीं है कि वे अपने मन का काम करें और उससे अपनी जीविका भी चलाते रहें। हिन्दी के बड़े-से-बड़े लेखकों और कलाकारों को ऐसा बेकार का काम करना पड़ा है जो उनकी

प्रतिभा के अयोग्य था, लेकिन जो उनकी जीविका के लिए अनिवार्य था। प्रेमचन्द को भी ऐसा ही काम करना पड़ा था जिसके बारे में उन्होंने जैनेन्द्रजी को लिखा था—"काम की कुछ न पूछो। बेहूदा काम कर रहा हूँ। कहानियाँ केवल दो लिखी हैं, उर्दू और हिन्दी में। हाँ, कुछ अनुवाद का काम किया है।" (उप० पृष्ठ ७८३)। जब उपन्यास-सम्राट् की यह हालत थी तब साधारण लेखकों की स्थिति का आसानी से अन्दाज़ा लगाया जा सकता है।

प्रेमचन्द बड़े ही स्वाभिमानी व्यक्ति थे लेकिन अपने सम्मान से ज़्यादा उन्हें देश के सम्मान का ध्यान रहता था। मुंशी दयानारायन निगम ने अपने घर पर एक समारोह में जब कुछ अंग्रेज़ों को भी बुलाया तो प्रेमचन्द ने उनके इस कार्य का विरोध किया।

प्रेमचन्द के लिए देश-भक्ति और जन-तंत्र दो विरोधी चीज़ें नहीं थीं। वह राष्ट्रीय और जनवादी भावनाओं के समर्थक थे। निर्भीकता से वह अपने विचार दूसरों के सामने रखते थे और उनके लिए लड़ते थे। एक बार हिन्दुस्तानी का समर्थन करते हुए उन्होंने गांधी जी का भी विरोध किया था और श्री चतुरसेन शास्त्री की पुस्तक 'इस्लाम का विषवृक्ष' के बारे में लिखा था—"इस कम्युनल प्रोपेगैंडा का ज़ोरों से मुकाबला करना होगा।"

प्रेमचन्द ने अपने प्रिय 'हंस' को चलाने के लिए कुछ दिन सिनेमा के लिए लिखा, लेकिन उन्हें गुलाम बनकर लिखना मंजूर न था। पग-पग पर उन्हें अनुभव हुआ कि इस समाज में लेखक स्वाधीन नहीं है। उसे कलम बेचकर अर्गलिक रचनाओं से पूंजीपतियों के मुनाफ़े का साधन बनना पड़ता है। फ़िल्मी जीवन के कटु अनुभवों का ज़िक्र करते हुए उन्होंने जैनेन्द्र जी को लिखा था—"मैं जिन इरादों से आया था उनमें एक भी पूरा होता नज़र नहीं आता। ये प्रोड्यूसर जिस ढंग की कहानियाँ बनाते आये हैं, उस लीक से जौ भर नहीं हट सकते। Vulgarity को ये Entertainment value कहते हैं। अद्भुत ही में इनका विश्वास है। राजा-रानी, उनके मंत्रियों के षड्यंत्र, नकली लड़ाई। बोसेवाज़ी। ये ही उनके मुख्य

साधन हैं।" 'मजदूर' फिल्म के बारे में लिखा था—"मजदूर में भी मैं इतना डरा-सा आया हूँ कि नहीं के बराबर।" मुनाफा कमाने वाली संस्कृति के ठेकेदारों के यहाँ लेखक की कितनी इज्जत होती है, प्रेमचन्द के पत्र इसे स्पष्ट कर देते हैं।

वह बम्बई से लौट आए। ग़रीबी में ठोकरें खाना कबूल किया; आत्म सम्मान बेचना उनके बस की बात न थी। एक स्मरणीय बात यह है कि प्रसाद जी ने प्रेमचन्द को बम्बई आने से रोका था। 'हंस' के प्रेमचन्द-स्मृति-अंक में एक चित्र छपा है जिसमें प्रसाद और प्रेमचन्द साथ खड़े हुए हैं। धोती, कुर्ते के साधारण वेश में देखकर अचानक विश्वास न होगा कि यही हिन्दी के महान् साहित्यकार प्रसाद और प्रेमचन्द हैं। लेकिन प्रेमचन्द की पैनी दृष्टि, जिससे कुछ भी छिपा न रहता था, इस धुंधले चित्र में भी उन्हें असाधारण प्रतिभाशाली घोषित करती है और प्रसाद का ऊँचा माथा उनके विशद अध्ययन और आत्मविश्वास को प्रकट करता है। इन दो साहित्यकारों की मित्रता हिन्दी-साहित्य के इतिहास की एक स्मरणीय घटना है। प्रेमचन्द ने प्रसाद जी का 'कंकाल' उपन्यास छपने पर उसकी बड़ी सुन्दर आलोचना लिखी थी।

कहते हैं कि जिस समय प्रेमचन्द की अर्थी उठी थी, उस समय उसे कन्धा देने वालों में स्वर्गीय जयशंकर 'प्रसाद' भी थे।

किसी ने एक बार प्रेमचन्द जी से पूछा था—आपकी सबसे अच्छी कहानी कौन सी है?

प्रेमचन्द ने जवाब दिया था—वह अभी लिखी ही नहीं गई।

दरअसल वह लिखी नहीं गई थी, क्योंकि प्रेमचन्द उसे जी रहे थे। वह कहानी लिखी जा भी नहीं सकती थी। उनकी सबसे अच्छी कहानी उनका जीवन थी।

प्रेमचन्द में विचारों की दृढ़ता चट्टान-जैसी थी। उनके कई मित्रों ने लिखा है कि उन्हें ईश्वर में विश्वास नहीं था। मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए प्रेमचन्द से लोग ईश्वर का स्मरण करने के लिए कहते थे। उन्होंने उस अन्तिम

रात्रि को जैनेन्द्र से कहा था—"जैनेन्द्र, लोग ऐसे समय याद किया करते हैं ईश्वर, मुझे भी याद दिलाई जाती है। पर अभी तक मुझे ईश्वर को कष्ट देने की जरूरत नहीं मालूम हुई है।"

यह प्रेमचन्द का मनुष्यत्व था जो मृत्यु को देख कर मुस्करा रहा था।

प्रेमचन्द की जीवन-कथा एक दूसरे महान् लेखक की याद दिलाती है जिसका जीवन इतने कटु अनुभवों से भरा हुआ था कि उसने अपना नाम ही गोर्की (तिक्त) रख लिया था। जिस साल प्रेमचन्द का देहावसान हुआ, उसी साल गोर्की का भी। दोनों की समानताओं का जिक्र करते हुए श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने लिखा था—"गोर्की की भाँति ही उन्होंने छुटपन से ही कठिनाइयों की कड़वी घूँट पी थी। उनका दुःख ही उनके लिए अमृत बन गया।"

प्रेमचन्द दुखी हिन्दुस्तान के गरीबों के लेखक थे। उनका साहित्य तमाम पीढ़ियों का मानसिक संबल है।

प्रेमचन्द की आवश्यकताएं हिन्दुस्तान के एक साधारण किसान की आवश्यकताएँ थीं। उन्हें भी पूरा करने के लिए उन्हें जी तोड़ परिश्रम करना पड़ा। उनकी प्रतिभा पूरे विकास पर थी, जब 'मंगल सूत्र' को अधूरा छोड़कर उनकी लेखनी ने विश्राम लिया। वह जिन्दगी को प्यार करते थे; मौत से डरते न थे लेकिन मरना चाहते भी न थे। वह लिखना चाहते थे, अपने देश और जनता की और भी सेवा करना चाहते थे। जब से 'सोजे-वतन' की प्रतियाँ जलाई गईं, तब से लेकर 'हंस' के लिए जमानतें देने तक—और आखिरी जमानत उन्होंने अपनी मृत्यु के साल ही दी थी—उन्हें बराबर ब्रिटिश साम्राज्यवाद से टक्कर लेनी पड़ी। यह कहना सच होगा कि प्रेमचन्द देश की आजादी के लिए लड़ते हुए शहीद हुए और उनका खून अंग्रेज साम्राज्यवादियों के सिर पर है।

जिस समय मजबूर होकर उन्होंने 'हंस' साहित्य-परिषद् को दे दिया था, इस विचार से कि छपाई से प्रेस चलेगा, उस समय उनके पेट में अल्सर था और मुंह से खून आता था। साहित्य-परिषद् ने पचास रुपये

की बचत के लिए उसे सस्ता-साहित्य-मंडल को दे दिया। प्रेमचन्द ने एक मित्र को सच्ची कड़वी बात लिखी थी—"बनियों के साथ काम करके यह सिला मिला कि तुमने 'हंस' में ज्यादा रुपया खर्च कर दिया। इसके लिए मैंने दिलो-जान से काम किया। बिलकुल अकेला अपने वक्त और सेहत का कितना खून किया, इसका किसी ने लिहाज न किया।" (अख्तरहुसैन रायपुरी को पत्र; श्री हंसराज 'रहबर' द्वारा "प्रेमचन्द: जीवन और कृतित्व" में उद्धृत)।

भले ही कुछ स्वार्थियों ने लिहाज न किया हो, हिन्दुस्तान के तमाम देश-प्रेमी लेखकों और पाठकों के लिए प्रेमचन्द की जीवन-स्मृति एक निधि है, जिसकी वे प्राण-पन से रक्षा करेंगे।

UNIT-II

प्रेमचंद और किसान

प्रेमचंद की कथा दृष्टि मूलत: किसान और गांव पर आधारित है। इनका संपूर्ण कथा साहित्य प्रत्यक्षत: इन्हीं दो विषयों के इर्द-गिर्द चक्कर काटता है। भारतीय जीवन पर अंग्रेजी शासन और अपनी ही अशिक्षा, अज्ञानता तथा स्वार्थांधता का दोहरा दबाव था जिसमें भारतीय जीवन को आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, मानसिक आदि सभी स्तरों पर गुलाम बनने को मजबूर कर दिया था। एक तरफ तो ब्रिटिश सरकार अपने फायदे के लिए भारतीयों का शोषण कर रही थी, वहीं कुछ ऊँचे वर्ग के धनी भारतीय इस बहते पानी में हाथ धो रहे थे, जिसके कारण भारतीयों को न सिर्फ विदेशी, अपितु देशी मार भी सहनी पड़ रही थी, जिसने उनके आत्मविश्वास की कमर तोड़ दी थी।

भारतीय जनता इतनी अज्ञान, इतनी भोली-भाली थी कि शासन प्रणाली के दो मुंहे कष्ट को वह समझ नहीं पा रही थी और सामाजिक बुराइयों तथा विदेशी शासक के दो पाटों के बीच बुरी तरह पिसती जा रही थी। भारत जैसे महान देश की सबसे बड़ी विडंबना भी थी कि देश की 80 प्रतिशत जनता, जिसने देश को देश बनाया था, शासन प्राणाली के द्वारा सबसे ज्यादा उपेक्षा का शिकार हो रही थी। वह किसान जो अपने खून-पसीने से भूमि को सींचता था, रोपता था और पूरे देश की जनता के लिए अनाज पैदा करता था, अंग्रेजों की भूमि व्यवस्था के कारण वही अब नीलामी और बेदखली की ठोकरें खा रहा था, भूमिहीन हो रहा था। किंतु अनेक ठोकरें खाकर भी वह किसान और गृहस्थ होने के मरजाद रूपी मोह को त्याग नहीं पा रहा था। किसानी की मरजाद एक ऐसी वस्तु है, गृहस्थ कहलाने का गौरव एक ऐसा मोह है जिसे किसान अपनी इच्छा से चाहकर भी छोड़ नहीं पाता। प्रेमचंद गरीबों की इस भावना का वर्णन करते हुए कहते हैं –''कृषि प्रधान देश में खेती केवल जीविका का साधन नहीं है, सम्मान की वस्तु भी है। गृहस्थ कहलाना गर्व की बात है। किसान गृहस्थी करता है। मान-प्रतिष्ठा का मोह औरों की भांति उसे घेरे रहता है। वह गृहस्थ रहकर जीना और गृहस्थी ही में मरना भी चाहता है। उसका बाल-बाल कर्ज से बंधा हो, लेकिन द्वार पर दो-चार बैल बांधकर वह अपने को धन्य समझता है। उसे साल में 360 दिन आधे पेट खाकर रहना पड़े, पुआल में घुसकर राते काटनी पड़े, बेबसी से जीना और बेबसी से मरना पड़े, कोई चिंता नहीं, वह गृहस्थ तो है। यह गर्व उसकी सारी दुर्गति की पुरौती कर देता है।''1

पूंजीवाद के प्रभाव ने किसानों को अचानक ही अत्यधिक व्यावहारिक बना दिया था। जिसके कारण वे सम्मिलित परिवार प्रथा को तोड़कर एकल परिवार बसाने लगे, पूरा माहौल स्वार्थ पूर्ति की सोच को उत्तेजित करने वाला था, जिससे लोग अदूरदर्शी होकर अपनी ही जमीनों का बंटवारा करने लगे, भाई-भाई का न रहा, एक ही जमीन सभी भाइयों में बंटकर टुकड़ा भर हो जाती थी। जिसका परिणाम यह हुआ कि वही जमीन जो पूरे घर का पेट भरती थी, अब अलग होकर एक ही परिवार का पालन करने में असमर्थ थी। पूंजीवादी अंग्रेजों के इन कुकृत्यों के साथ ही किसानों के कोमल हृदयों में द्वेष, स्वार्थ और जलन की भावनाओं का भी प्रवेश हुआ। डाह और शक के कारण पहले तो परिवार अलग होने लगे, फिर भी संतुष्टि नहीं हुई तो एक-दूसरे की खुशियों से जलने लगे। एक भाई के घर में जश्न होता तो दूसरे के कलेजे पर सांप लोटता था, एक भाई के घर में शोक मनता था तो दूसरा मिठाइयां बांटता था। स्वयं प्रेमचंद ने अलग्योझा के विषय में अपनी एक कहानी में कहा है –''उसने गांव में दो-चार परिवारों को अलग होते देखा था। वह खूब जानता था, रोटी के साथ लोगों के हृदय भी

अलग हो जाते हैं। अपने हमेशा के लिए गैर हो जाते हैं। फिर उसमें वही नाता रह जाता है, जो गांव के और आदमियों में।''2

यही अलग्योझा धीरे-धीरे भारतीय जनता की भूमि औऱ भूमि के साथ मानस को बांट रही थी जिसका फायदा अंग्रेज उठा रहे थे। समाज कई वर्गों में बंटता जा रहा था। प्रत्येक ऊंचा वर्ग अपने से निचले वर्ग पर अधिकार जमाता था। अधिकार की श्रेणी पद से ज्यादा धन पर आधारित थी, जिसका परिणाम यह हुआ कि सबसे गरीब तबके के किसान, मजदूर और श्रमिकों का जीवन शासन और शोषण के अनगिनत तहों के नीचे दबता-पिसता और संकुचित होता जा रहा था। जमींदार, कारिंदे, पटवारी, साहुकार इत्यादि के रूप में प्रेमचंद ने अपने कथा-साहित्य में इन्हीं तहों का बड़ा ही सूक्ष्म चित्रण किया है और बड़ी ही स्पष्टता से दिखाया है कि इनके पंजों के नीचे किस तरह किसान लगान और कभी न खत्म हो सकने वाले ऋण-भार से दबा हुआ था। इसी ऋण और ब्याज से किसान जीवन में महाजनी पूंजीवाद या महाजनी सभ्यता का प्रवेश हुआ जिसकी पूरी प्रक्रिया का वर्णन कृष्णदेव झारी ने अपने शब्दों में बड़ी स्पष्टता से किया है –''गांवों में महाजनी पूंजीवाद प्रचलित था। यह महाजनी शोषण कई प्रकार का था। गांव में जिस किसी के पास चार पैसे हुए, वही महाजन बनने लगा था। सूअर का खून मुंह लग गया था।''3 इस महाजनी सभ्यता ने लोगों को इतना हृदयहीन और संवेदनाशून्य बना दिया था कि यही किसान जो खुद उधार लेने पर ब्याज के बोझ के नीचे दबा रहता है, महाजनों को गालियां देता है, उनकी हृदयहीनता एवं अमानुषिकता पर ताने कसता है, खुद दो-चार पैसे जमा हो जाने पर उसी व्यवहार को अपनाने लगता है। प्रेमचंद ने इसे 'महाजनी सभ्यता' कहा है। जिस सभ्यता में पैसा ही सबकुछ है। मानव के भाव पूर्णत: मूल्यहीन हो गए हैं। जहां पैसे के कारण मनुष्य खुद को भी बेचता है, उसके ईमान का, धर्म का कोई मोल नहीं, बिजनेस ही विजनेस है, वहां भावुकता से कोई सरोकार नहीं। और इसी मान्यता के विरोधी थे प्रेमचंद। उनका साहित्य इस का विरोध शाश्वत प्रमाण है। प्रेमचंद ने अपने निबंध 'महाजनी सभ्यता' में महाजनी सभ्यता की विशेषताओं को बताते हुए लिखा है -- ''इस महाजनी सभ्यता में सारे कामों का गरज महज पैसा होती है। किसी देश पर राज्य किया जाता है, तो इसलिए कि महाजनों, पूंजीपतियों को ज्यादा-से-ज्यादा नफा हो। इस दृष्टि से मानो आज दुनिया में महाजनों का ही राज्य है। मनुष्य-समाज दो भागों में बंट गया है। बड़ा हिस्सा तो मरने और खपने वालों का है, और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का, जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े समुदाय को अपने वश में किए हुए है।''4

दूसरा सिद्धांत बताते हुए प्रेमचंद आगे कहते हैं –''इस सभ्यता का दूसरा सिद्धांत है 'बिजनेस इज बिजनेस। अर्थात व्यवसाय है उसमें भावुकता के लिए गुंजाइश नहीं। पुराने जीवन सिद्धांत में वह लट्ठमार साफगोई नहीं है, जो निर्लज्जता कही जा सकती है और इस नवीन सिद्धांत की आत्मा है। जहां लेन-देन का सवाल है, रूपये-पैसे का मामला है, वहां न दोस्ती का गुहर है, न मुरौवत का, न इंसानियत का। 'बिजनेस' में दोस्ती कैसी। जहां किसी ने इस सिद्धांत को आड़ ली और लाजवाब हुए। फिर आपकी जबान नहीं खुल सकती।''5

जिस भूमि पर किसान का अस्तित्व और जीविका अवलंबित थी, वही भूमि क्रमश: हाथ से निकलते जाने पर किसान की अवस्था सोचनीय होती जा रही थी, उसका विश्वास टूटता जा रहा था और इससे उसकी आर्थिक स्थिति, सांस्कृतिक स्थिति, सामाजिक स्तर निम्नतम कोटि का होता जा रहा था। अनावृष्टि, अतिवृष्टि और प्राकृतिक प्रकोपों से जान बचाकर जो फसल घर में आती थी, अब अंग्रेजों की नीति से नकद के रूप में उसे भी लगान के रूप में निगल लिया जाता था, वह भी अत्यंत निर्दयता से, तिस पर करेला पर नीम चढ़े का काम करते थे हमारे ही देश के तथाकथित पूंजीपति और जमींदार, जमींदारों के कारिंदे जो अंग्रेजों की निर्दयता और कठोरता से रत्तीभर भी कम न रहने की प्रतियोगिता में थे।

प्रेमचंद अपने साहित्य में किसानों के हक की बात करते हैं। वे चाहते है कि जमीन उसी की हो जो उसे रात-दिन खटकर जोतता है, उसकी नहीं जो महलों में बैठकर उनके पसीने पर ऐश करता है। किसानों को उनका हक दिलाने की बात प्रेमचंद ने 'प्रेमाश्रम' के पात्र प्रेमशंकर के माध्यम से कही है – ''भूमि उसकी है जो उसको जोते। शासक को उसकी उपज में भाग लेने का अधिकार इसलिए है कि वह देश में शांति और रक्षा की व्यवस्था करता है, जिसके बिना खेती हो नहीं सकती। किसी तीसरे वर्ग का समाज में कोई स्थान नहीं है।''6

ऋण भार से ग्रस्त, भूमि से हीन होकर और गरीबी से त्रस्त होकर भूख से मरते हुए गरीब किसान के पास कोई चारा नहीं बच रहा था सिवाय इसके कि वह औद्योगिक जगत की तरफ मजदूर बनकर दौड़े और यही प्रेमचंद का दर्द था, यही तकलीफ थी जो प्रेमचंद को दु:ख पहुंचा रही थी। उन्होंने अपने कई उपन्यासों और कहानियों में किसान से मजदूर बनने की प्रक्रिया का बड़ा ही हृदय-विदारक और यथार्थ चित्रण किया है। जैसे गोदान की संपूर्ण कथा ही होरी से गोबर बनने की, किसान से मजदूर बनने की कथा है। होरी पूरे जीवन में अपने किसान होने के गौरव को खोना नहीं चाहता, ऋणों का असीमित भार उसे पंगु बना देता है, भूख उसे अशक्त बना देती है, अलग्योझा उसकी कमर तोड़ देता है, धार्मिक पाखंड उसके चोटों पर नमक छिड़कता रहता है, बिरादरी का डर और डांड का बोझ उस पर कहर बनकर बरसता है, लगान उसकी रही-सही कसर पूरी करता रहता है, किंतु होरी फिर भी अपने किसान होने के गर्व से अभिभुत रहने में ही संतुष्टि खोजता है। यह गर्व आखिर क्या था, जो किसान को भूमि से बांधे रखता है ? किसान भूमि को सींचकर, बंजर में भी अन्न पैदा कर सकता है, रात-दिन, वर्षा पाला, धूप-जाड़ा की परवाह न करता हुआ वह हाड़ फाड़कर खेती करता है, सिर्फ इस गौरव-ज्ञान से कि यही अन्न पूरा देश खाएगा, इसी अन्न पर पूरे देश का जीवन निर्भर करता है। पूरा देश भले यह सोचे या न सोचे, पूरा देश भले किसान की उपेक्षा करे, उसकी जरूरत और उसके महत्व को भूल जाए, पर किसान भी अगर अपने महत्व को, भूमि के महत्व को भूल जाए तो इस देश की क्या अवस्था होगी ? यदि किसान एक-एक करके मजदूर बन जाएंगे तो खाद्य-संकट पूरे देश को निगल जाएगा। इस ज्ञान और बोध से भले ही हमारे शिक्षित जन अछूते हैं या जान-बूझकर स्वार्थ लोभ में अंधे बने रहें, किंतु एक अनपढ़ किसान इस बात को भली-भांति जानता है, अपने उस गुरु-कर्म से पूरी तरह परिचित होने के बावजूद भी वह अपना कर्म निर्ब्याज भाव से बिना किसी अभिमान के पूरा करता है। वह अपनी महत्ता का फायदा उठाना नहीं जानता और इसी कारण से लोग उसका फायदा उठाते जाते हैं। 'गोदान' का होरी अपनी भूमि को अपना बनाए रखने की हर संभव कोशिश करता है, किंतु अंतत: इस देश की व्यवस्था उसे मजदूर बनने पर विवश कर देती है और यही पीड़ा अंतत: होरी की जान ले लेती है। किंतु हर किसान होरी नहीं होता जो मरते दम तक जमीन को सीने से चिपटाए रखे। होरी जैसी सहनशीलता हर किसान में नहीं होती, इसका चित्रण प्रेमचंद गोबर के माध्यम से करते हैं जो गांव की अव्यवस्था, अत्याचार, गरीबी और अनाचार से ऊबकर शहर चला जाता है तथा खन्ना की मिल में मजदूर बन जाता है। प्रेमचंद ने अपनी अंतर्दृष्टि से इस पूरे भावी को देख और समझ लिया था। उन्होंने जो चित्रण किया, वह आज अपने भयावह विकराल रूप में खाद्य संकट बनकर पूरे देश, पूरे विश्व के सामने मुंह बाए खड़ा है।

किसानों से ही बनता है गांव। किसानों की हालत दिन-ब-दिन बिगड़ती ही जा रही थी, तो स्वभावत: गांवों की स्थिति भी गिरती जा रही थी –''गोबर ने घर पहुंचकर उसकी (घर की) दशा देखी, तो ऐसा निराशा हुआ कि इसी वक्त यहां से लौट जाय। घर का एक हिस्सा गिरने-गिरने हो गया था। द्वार पर एक बैल बंधा हुआ था, वह भी नीमजान। धनिया और होरी दोनों फूले न समाये लेकिन गोबर का जी उचाट था। अब इस घर के संभलने की क्या आशा है। वह गुलामी करता है, लेकिन भरपेट खाता तो है। केवल एक ही मालिक का तो नौकर है। यहां तो जिसे देखो, वही रोब जमाता है। गुलामी है, पर सुखी।

मेहनत करके अनाज पैदा करो और जो रुपये मिले, वह दूसरों को दे दो। आप बैठे राम-राम करो।''7

यह तो होरी के घर की दशा है। गांव की दशा भी कुछ अलग न थी –''और यह दशा कुछ होरी ही की न थी। सारे गांव पर यह विपत्ति थी। ऐसा एक आदमी भी नहीं, जिसकी रोनी सूरत न हो, मानो उनके प्राणों की जगह वेदना ही बैठी उन्हें कठपुतलियों की तरह नचा रही हो। चलते-फिरते थे, काम करते थे, पिसते थे, घुटते थे, इसलिए कि पिसना और घुटना उनकी तकदीर में लिखा था। जीवन में न कोई आशा है, न कोई उमंग जैसे उनके जीवन में सोते सूख गए हों, सारी हरियाली मुरझा गई हो।''8

सच ही तो है, सिर्फ ब्रिटिश शासन के दबाव में पूरे देश की ऐसी अवस्था हो गई थी, कि अब धीरे-धीरे लोगों में चरमराहट और सुगबुगाहट पैदा होने लगी थी। बेबसी और परवशता ने सभी को पंगु बना दिया था तो किसानों की क्या पूछ। उन पर तो एक नहीं, दो नहीं, तीन नहीं, शासन करने वाले दर्जनों प्रार्थी थे, वह भी निर्दयता से निरंकुशता से तिस पर भूखे पेट, खाली तन और सैकड़ों बंधन लादकर। बहुत देर तक तरसते रहने के बाद पानी पीकर भी व्यक्ति को वह सुख नहीं मिलता, जो प्यास के तुरंत बाद मिलता है और अगर उसे पता हो कि वह पानी भी सिर्फ देखने के लिए है, तब तो कोई बात ही नहीं। यही दशा उन गरीब किसानों की हो रही थी। जिस फसल के लिए वे रक्त-मांस सुखाकर काम करते थे, उसको देखकर भी उन्हें खुशी नहीं है, जो प्राकृतिक, स्वच्छ माहौल गांवों का वरदान है, उसको पाकर भी उन्हें सुख नहीं। उनकी समस्त इंद्रियां सुन्न पड़ गई है, इंद्रियों ने इतना बर्दाश्त किया है कि अब उस पर कुछ असर नहीं पड़ता। प्रेमचंद के शब्दों में –''जेठ के दिन हैं, अभी तक खलिहानों में ही तुलकर महाजनों और कारिंदों की भेंट हो चुका है और जो कुछ बचा है, वह भी दूसरों का है। भविष्य अंधकार की भांति उनके सामने है। उसमें उन्हें कोई रास्ता नहीं सूझता। उनकी सारी चेतनाएं शिथिल हो गई हैं।''9

किसानों के खलिहान में अनाज है, किंतु वे जानते हैं कि उनके सिर पर लगान का बोझ भी है, पूरा खलिहान खाली करने के बाद भी लगान के रुपये बाकी थे, उन्हें चुकाने के लिए महाजन से जो ऋण लिया था उसका मूल और सूद भी चुकाना है, आखिर अनाज में एक दाना भी तो अपना नहीं, फिर खुश क्योंकर हों। ऋण और ब्याज के क्रम में एक और अध्याय जुड़ेगा तभी पेट भरेगा अन्यथा पूरा वर्ष चने फांकने होंगे, फिर उसकी इंद्रियां शिथिल क्यों न हों, जब पेट ही खाली हो तो इंद्रियों में शक्ति का संचार कहां से हो। और इसी अर्धचेतना की दशा का वर्णन प्रेमचंद ने आगे किया है –''द्वार पर मानों कूड़ा जमा है, दुर्गंध उड़ रही है, मगर उनकी नाक में न गंध है, न आंखों में ज्योति। सरेआम द्वार पर गीदड़ रोने लगते हैं, मगर किसी को गम नहीं। सामने जो कुछ मोटा-झोटा आ जाता है, वह खा लेता है, उसी तरह जैसे इंजिन कोयला खा लेता है। उनके बैल चूनी-चोकर के बगैर नाद में मुंह नहीं डालते, मगर उन्हें केवल पेट में कुछ डालने को चाहिए। स्वाद से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। उनकी रसना मर चुकी है। उनके जीवन में स्वाद का लोप हो गया है। उनसे धेले-धेले के लिए बेईमानी करवा लो, मुट्ठी-भर अनाज के लिए लाठियां चलवा लो। पतन की वह इंतहा हैं, जब आदमी शर्म और इज्जत को भी भूल जाता है।''10

सरकार और जमींदारों की उपेक्षा के कारण कृषि की उन्नति ठप्प हो गई थी। पूंजीवादी सभ्यता के विकास के कारण मिल, कारखानों आदि की स्थापनाएं हो रही थीं जो किसानों के लिए अहितकर थीं क्योंकि किसान की उपज को उद्योग-धंधे के लिए सस्ते दामों पर खरीदा जाता था, जिससे किसानों को तो फायदा नाम-मात्र का होता था, पर पूंजीपति उससे कई गुना फायदा कमा रहे थे। किसानों का जीवन उस हाशिये पर पहुंच चुका था, जहां उन्हें बचने के लिए कीचड़ में सनना ही पड़ता। अपनी जान बचाने के लिए किसानों को या तो मजदूर बनना पड़ता था, या अपनी जान गंवानी पड़ती। और ये भी न

होता तो पेट की आग बुझाने के लिए उन्हें कोई भी बुरा काम करने में झिझक न होती। जब पेट खाली है, घर नहीं बचा, भूमि नहीं बची, सम्मान गया, नाम गया तब खेती करो, मजदूरी करो या लाठी चलाओ या चोरी करो, सब एक ही जैसे हो जाते हैं। और उन किसानों की क्या समझ आए, उनकी तो चेतना ही समाप्त हो गई है।

प्रेमचंद ने इस संपूर्ण प्रक्रिया को, होरी से गोबर बनने की पूरी क्रिया को समझा था, देखा था और बहुत ही करीब से महसूस किया था। यही कारण है घटना-प्रधान तिलस्मी–ऐयारी की कहानियां पढ़कर भी उनका मन ऐसी रचनाओं की तरफ नहीं भटका बल्कि उससे अर्जित लेखन-कला को उन्होंने अपनी इन अनुभूतियों की, किसानों के दु:ख को सबके सामने लाने के लिए अस्त्र के रूप में प्रयुक्त किया।

प्रेमचंद ने अपनी कथा-सृष्टि की सार्थकता इसी में समझी कि वे अपने माध्यम से किसानों की स्थिति को, उनके दुख को, उनकी दुविधा को, उनके कुचलते हुए आत्मसम्मान को जनता के सामने पेश कर सकें, और उससे भी बड़ी बात, उन्हें यह बता सकें कि किसान को जितनी ज्यादा जरूरत पूरे भारत के साथ और सहानुभूति की है, उससे कहीं ज्यादा जरूरत पूरे भारत को किसान की है, क्योंकि किसान ही बिना स्वार्थ के पूरे देश को अन्न दे सकता है, उसका पेट भर सकता है। वैसे भी, प्रेमचंद को औद्योगिकरण से अगर बहुत ज्यादा नफरत न थी, तो उन्हें उससे लगाव भी नहीं था। प्रेमचंद औद्योगिकरण को भारतीय समाज के लिए हानिकारक ही समझते थे। 'रंगभूमि' में उन्होंने सूरदास के माध्यम से औद्योगिकरण के संपूर्ण गुण-दोषों की व्याख्या करवाई है –''सरकार बहुत ठीक कहते हैं, मुहल्ले की रौनक जरूर बढ़ जाएगी, रोजगार लोगों को फायदा भी खूब होगा। लेकिन जहां यह रौनक बढ़ेगी, वहां ताड़ी-शराब का भी तो परचार बढ़ जाएगा, बस्तियां भी तो आकर बस जाएंगी, परदेसी आदमी हमारी बहू-बेटियों को घूरेंगे, कितना अधरम होगा। दिहात के किसान अपना काम छोड़कर मजूरी के लालच से दौड़ेंगे, यहां बूरी-बूरी बातें सीखेंगे और अपने बुरे आचरन अपने गांव में फैलायेंगे। दिहातों की लड़कियां, बहुएं मजरी करने आएंगी और यहां पैसे के लोभ में अपना धरम बिगाड़ेंगी। यही रौनक शहरों में है। वही रौनक यहां हो जाएगी। भगवान न करे, यहां वह रौनक हो।''11

'प्रेमाश्रम' के रायकमलानंद औद्योगिकरण के सहस्रों ताम-झाम के बावजूद भी यह स्वीकार नहीं करते कि सहस्रों किसान कुली बनकर अपने भाग्य को सराहेंगे। उन्हें अच्छी तरह पता है कि किसान मजबूरी में ही मजदूरी के पेशे को अपनाते हैं, दिली खुशी से नहीं। किसानों की मरजाद छोड़ने में उनका गौरव कुचल जाता है। कमलानंद कहते हैं –''किसान कुली बनकर कभी अपने भाग्य-विधाता को धन्यवाद नहीं दे सकता, उसी प्रकार जैसे कोई आदमी व्यापार का स्वतंत्र सुख भोगने के बाद नौकरी की पराधीनता को पसंद नहीं कर सकता। संभव है कि अपनी दीनता उसे कुली बने रहने पर मजबूर करे, पर मुझे विश्वास है कि वह इस दासता से मुक्त होने का अवसर पाते ही तुरंत अपने घर की राह लेगा और फिर उसी टूटे-फुटे झोपड़ी में अपने बाल-बच्चों के साथ रहकर संतोष के साथ कालक्षेप करेगा।''12

प्रेमचंद भी नहीं चाहते थे कि शहर की रौनक गांवों के गरीब और भोले किसानों के संपर्क में आए। वे जानते थे कि हमारे देश की आधी से अधिक जनता गांवों में बसती है और खेती करके अपना पेट भरती है। अगर वह भी मजदूरी करने लगे तो खाद्य-संकट तो उत्पन्न होगा ही, भारतीय संस्कृति भी खतरे में पड़ जाएगी, स्त्रियों का जीवन नरक बन जाएगा, अनाचार फैलेगा, अनैतिकता का प्रसार होगा। किसानों की दुरवस्था और खेती में भर पेट रोटी न मिल सकने की मजबूरी में प्रेमचंद किसानों के लिए एक नया विकल्प ढूँढकर देते हैं। प्रेमचंद औद्योगिकरण की प्रत्येक क्रिया-प्रक्रिया से अच्छी तरह वाकिफ हैं। वे भली-भांति जानते हैं कि उद्योगपति अपने मजदूरों को सुख-सुविधा देते हैं, एक अच्छा जीवन स्तर प्रदान करते हैं। एजेंट कहता है –''हम कुलियों को जैसे वस्त्र, जैसा भोजन, जैसे घर देते हैं,

वैसे गांव में रहकर उन्हें कभी नसीब नहीं हो सकते। हम उनकी दवादारू का, उनकी संतानों की शिक्षा का, उन्हें बुढ़ापे में सहारा देने का उचित प्रबंध करते हैं। यहां तक कि हम उनके मनोरंजन और व्यायाम की भी व्यवस्था कर देते हैं। वह चाहें तो टेनिस और फुटबॉल खेल सकते हैं, चाहें तो पार्क में सैर कर सकते हैं। सप्ताह में एक दिन गाने-बजाने के लिए समय से कुछ पहले ही छुट्टी दे दी जाती है। जहां तक मैं समझता हूं पार्कों में रहने के बाद कोई कुली फिर खेती करने की परवाह नहीं करेगा।''13 किंतु प्रेमचंद का होरी इन सुखों का लालची नहीं है, उसे तो अपनी मरजाद प्यारी है। वह कहता है –''मजूर बन जाये, तो किसान हो जाता है। किसान बिगड़ जाये तो मजूर हो जाता है।''14

'कर्मभूमि' के काशी के मुंह से भी ऐसी ही बातें कहलाकर प्रेमचंद साबित कर देना चाहते हैं कि होरी अकेला ही ऐसा किसान नहीं है जो खेती में मरजाद समझता है, अपितु उसके जैसे अनेकों इन्सान हैं जो किसानी को अपने पूर्वजों की मर्यादा-प्रतीक के रूप में चिपकाए हुए हैं। काशी कहता है –''मजूरी, मजूरी है, किसानी, किसानी है। मजूरी लाख हो, तो मजूर ही कहलाएगा। सिर पर घास लिए चले जा रहे हैं। कोई इधर से पुकारता है – ओ घासवाले ! कोई उधर से। किसी की मेड़ पर घास कर लो, तो गालियां मिले। किसानी में मरजाद है।''15

और फिर प्रेमचंद खुद भी तो अंधे नहीं थे। वे देख रहे थे कि सूरदास की जमीन पर जबसे मिल लग गई है तब से –''यहां बड़ी चहल-पहल रहती थी। दुकानदारों ने भी अपने-अपने छप्पर डाल लिए थे। पान, मिठाई, नाज, गुड़, घी, साग, भाजी और मादक वस्तुओं की दुकानें खुल गई थीं। ...दस-ग्यारह बजे रात तक यहां बड़ी बहार रहती थी। कोई चाट खा रहा है, कोई तंबोली की दुकान के सामने खड़ा है, कोई वेश्याओं से विनोद कर रहा है। अश्लील हास-परिहास, लज्जास्पद नेत्र-कटाक्ष और कुवासनापूर्ण हाव-भाव का अविरल प्रवाह होता रहता था। ...प्रत्येक प्राणी स्वच्छंद था, उसे न किसी का भय था, न संकोच। कोई किसी पर हँसनेवाला न था।''16

अत: प्रेमचंद इस मूल्यहीनता को किसी भी कीमत पर अपनाने को तैयार न थे। किसानों के रोजगार के लिए उन्होंने घरेलू शिल्प के प्रचार पर जोर दिया। रायसाहब के मुंह से वे अपने इस मंतव्य को जनता के सामने लाते हैं –''किसानों को यह विडंबनाएं इसलिए सहनी पड़ती हैं कि उनके लिए जीविका के और सभी द्वार बंद हैं। निश्चय ही उनके लिए जीवन-निर्वाह के अन्य साधनों का अवतरण होना चाहिए, नहीं तो उनका पारस्परिक द्वेष और संघर्ष उन्हें हमेशा जमींदारों का गुलाम बनाए रखेगा, चाहे कानून उनकी कितनी ही रक्षा और सहायता क्यों न करे। किंतु यह साधन ऐसे होने चाहिए जो उनके आचार-व्यवहार को भ्रष्ट न करें, उन्हें घर से निर्वासित करके दुर्व्यसनों के जाल में न फँसाएं, उनके आत्माभिमान का सर्वनाश न करें और यह उसी दशा में हो सकता है जब घरेलू शिल्प का प्रचार किया जाए और वह अपने गांव में कुल और बिरादरी की तीव्र दृष्टि के सम्मुख अपना-अपना काम करते रहें।''17

पूंजीवाद के आगमन, उसके आगमन के साथ हमारी नैतिकता में परिवर्तन और मूल्यों में गिरावट को प्रेमचंद बड़ी शिद्दत से महसूस कर रहे थे। प्रेमचंद महाजनी सभ्यता के कट्टर विरोधी थे और इस सभ्यता से उत्पन्न समस्याओं के कारण चिंतित भी थे। उनका मुख्य विषय था समाज में व्याप्त आर्थिक शोषण का पर्दाफाश करना और गांव में रहने वाले किसानों की स्थिति को आम जनता तक पहुंचाकर उसमें मूलभूत बदलाव करना। इसी कारण प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं में किसानों की स्थिति पर, भारतीय गांवों की स्थिति पर और कृषि व्यवस्था पर पूरी निष्ठा से चित्रण किया।

भारतीय किसान अर्थव्यवस्था की रीढ़ माने जाते हैं। इनके वगैर खुशहाल देश की उम्मीद करना बेमानी होगी। जब तक किसान खुश नहीं होंगे तब तक भारतीय व्यवस्था पूरी तरह से मजबूत नहीं होगी। भारत की चतुर्मुखी विकास के लिए भारतीय किसानों का उद्धार होना जरूरी है।

इकाई 6 सेवासदन : शिल्प-संरचना (औपन्यासिक शिल्प)

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 वस्तु और रूप का संबंध

6.3 शिल्प की तलाश का प्रश्न

6.4 'सेवासदन' का वस्तु-संगठन और उसकी औपन्यासिकता

6.5 पात्र-संरचना और भाषा की समस्या

6.6 प्रभावान्विति का प्रश्न और शीर्षक की सार्थकता

6.7 प्रेमचंद की रचना-दृष्टि

6.8 सारांश

6.9 अभ्यास प्रश्न

6.0 उद्देश्य

इस खंड की प्रथम इकाई में आपने 'सेवासदन' की अन्तर्वस्तु का अध्ययन कर लिया है। प्रस्तुत इकाई में 'सेवासदन' की शिल्प-संरचना या औपन्यासिक शिल्प पर विचार किया जाएगा। इस क्रम में सर्वप्रथम वस्तु-तत्व और रूप या शिल्प के पारस्परिक संबंध और उनके तुलनात्मक महत्व पर प्रकाश डाला जाएगा।

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- प्रेमचंद अपने वस्तु-तत्व की समुचित अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त शिल्प की तलाश के लिए कितने प्रयत्नशील रहे हैं - इस तथ्य की जानकारी दे सकेंगे;
- औपन्यासिक शिल्प की अपेक्षाओं की दृष्टि से 'सेवासदन' के वस्तु-संगठन की स्थिति पर चर्चा कर सकेंगे;
- औपन्यासिक शिल्प के संदर्भ में 'सेवासदन' की पात्र संरचना और भाषा की समस्या पर भी विचार कर सकेंगे;
- कथा-साहित्य में प्रभावान्विति को विशेष महत्व दिया गया है। उसकी उपलब्धि संरचना-शिल्प के माध्यम से ही संभव होती है। इस तथ्य को भी आप स्पष्ट कर सकेंगे; और
- अन्तर्वस्तु और रचना-शिल्प के मध्य उसके शीर्षक की भी एक अहम् भूमिका होती है। प्रभावान्विति के संदर्भ में ही 'सेवासदन' शीर्षक की सार्थकता पर भी चर्चा करेंगे।

6.1 प्रस्तावना

इस खंड की इकाई-5 में 'सेवासदन' की अन्तर्वस्तु का विवेचन-विश्लेषण किया गया है। किसी कलाकृति के सम्यक् आकलन में मात्र अन्तर्वस्तु का विवेचन-विश्लेषण अपर्याप्त है।

सम्यक् आकलन के लिए उसका शिल्पगत मूल्यांकन भी अनिवार्य है। चूँकि प्रेमचंद के कथा शिल्प, विशेषत: उनकी सीधी सपाट भाषा को लेकर हिंदी के अनेक आलोचकों की आपत्तियाँ रही हैं, जो अन्तत: उनकी रचना के वस्तु तत्व पर भी आक्षेप का आधार बनी हैं। अत: उनके सत्यासत्य पर सावधानी से विचार करने की जरूरत है। अपने जीवन काल में ही प्रेमचंद इस तथ्य से अवगत हो चुके थे। 1936 में 'प्रगतिशील लेखक संघ' के स्थापना अधिवेशन में उन्होंने रचनात्मक साहित्यकारों के सामने एक नयी चुनौती प्रस्तुत करते हुए कहा था कि हमें अपने सौंदर्य की कसौटी में व्यापक परिवर्तन करने की जरूरत है। रचनाकार को महल, अट्टालिकाओं तथा उसके उद्यानों में विकसित लाल-गुलाबी गालों से परे खेत-खलिहानों में भी अपनी नजर ले जाने की जरूरत है, जहाँ खेत की मेड़ पर अपने भूखे बच्चे को लिटा कर काम करती मजदूरिन का सौंदर्य बिखरा पड़ा है।

उपर्युक्त वस्तु-तत्व के व्यापक परिवर्तन के साथ ही प्रेमचंद ने नये आलोचना-विवेक की आवश्यकता पर भी जोर दिया है। इस नये आलोचना-विवेक के प्रकाश में ही हम प्रेमचंद के औपन्यासिक शिल्प की उपलब्धियों को अच्छी तरह रेखांकित कर सकेंगे। प्रस्तुत इकाई में हम इस मान्यता के प्रकाश में 'सेवासदन' के औपन्यासिक शिल्प का अंकन करने का प्रयास करेंगे।

इस संबंध में हमें इस तथ्य को भी ध्यान में रखना होगा कि प्रेमचंद के समय तक छायावादी शिल्प की अपेक्षाओं के संदर्भ में शिल्प और वस्तु-तत्व को लेकर विवाद शुरू हो गया था। सियाराम शरण गुप्त ने 'निररस तरुरि : विलसति पुरत:' कथन की काव्यात्मक सहृदयता पर आक्षेप करते हुए 'शुष्कं कष्टं तिष्ठति अग्रे' को अधिक सहृदयतापूर्ण बताया। क्योंकि पहले उद्धरण में काव्यमयता के बहाने सूखी लकड़ी की वास्तविकता का मजाक उड़ाने का प्रयास लक्षित होता है।

प्रगतिशील साहित्यान्दोलन के दौर में इस विवाद को एक नया रूप दिया गया। 'कस्मै देवाय सहिषम् विधेम' (हमें किस देवता की पूजा करनी चाहिए) अर्थात हमें किसके लिए किसे आधार बना कर साहित्य लिखना चाहिए। वस्तुत: यह विवाद प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना से कुछ महीने पूर्व नागपुर में संपन्न 'भारतीय साहित्य परिषद' के अधिवेशन में अत्यंत सार्थक ढंग से प्रस्तुत हो चुका था। इसमें पं. नेहरू, प्रेमचंद, आचार्य नरेन्द्रदेव, मौलबी अब्दुल हक; आख्तर हुसेन के हस्ताक्षरों से एक प्रस्ताव पारित हुआ था, जिसका एक अंश इस प्रकार है:

"इनसानियत के नाते हम पूछते हैं कि आज जब उन्नति तथा अवनति की ताकतों में आखिरी लड़ाई छिड़ी हुई है, क्या साहित्य उससे अपने को अलग रख सकता है? क्या कला, सौंदर्य, आदि का पल्ला पकड़कर वह जिन्दगी से भाग सकता है? क्या यथार्थ की सील पर बैठकर क्रांति और प्रतिक्रिया के द्वंद्व का तमाशा खामोशी से देख सकता है? तो फिर किसानों की पुकार, मजदूरों की कराह और भिखारियों की आह हमें बेहिस क्यों रख सकती है? जब जीवन का सबसे बड़ा मसला यह है कि समाज की देह से बेकारी, गरीबी और शोषण का कोढ़ किस तरह धोया जाए तो क्या यह कहने की जरूरत रह जाती है कि साहित्य का इशारा किस तरफ हो, वह क्या कहे?..... हमें विश्वास है कि हमारे देश के साहित्यकार जीवन और साहित्य में अलगाव की खाई को पाट कर, साहित्य को इन्कलाब का संदेशवाहक बनाएँगे।" (जनवादी साहित्य विशेषांक, उत्तरार्द्ध अंक 20, परिशिष्ट, पृ. 68)

इस लम्बे उद्धरण को पढ़कर आप देख सकते हैं कि यह उद्देश्य और दृष्टि प्रेमचंद के सामने अपने रचनाकाल के आरंभ से ही रही है। 'क्या कहे, किससे कहे' का उत्तर आपको 'सेवासदन' की अंतर्वस्तु के विश्लेषण में मिल चुका है। यहाँ इस इकाई में 'किस तरह से कहे' का उत्तर 'सेवासदन' के शिल्प विश्लेषण में हम देने का प्रयास करेंगे। 'किस तरह से कहे' में साहित्य के शिल्प का ही प्रश्न निहित है।

6.2 वस्तु और रूप का संबंध

साहित्य में अंतर्वस्तु और रूप या शिल्प के मध्य किसी एक की प्रमुखता का विवाद काफी पुराना है। यह विवाद अधिकतर काव्य की समीक्षा में उठा है। आलोचना के पूरे इतिहास पर दृष्टिपात करें तो हमें स्पष्ट दिखाई देगा कि विभिन्न साहित्यिक युगों में एक विशेष प्रकार की वस्तु (काण्टेण्ट) को एक विशेष प्रकार के रूप (फार्म) में व्यक्त करने का आग्रह रहा है। इसके साथ ही हमें यह भी दिखाई देगा कि कुछ समीक्षा प्रणालियों में वस्तु के प्रति अधिक आग्रह है तो कुछ में रूप के प्रति। इस संबंध में हमारे सामने प्रश्न उपस्थित होता है कि रचना का मूल्यांकन किस आधार पर किया जाए? इस प्रश्न पर प्राय: सभी समीक्षक एकमत रहे हैं कि रचना की समीक्षा का मूलाधार उसका वस्तु-तत्व और रूप या शिल्प ही है। लेकिन दोनों के मध्य प्राथमिकता का सवाल भी पैदा होता है कि इस मूल्यांकन का मूलाधार क्या हो?

मूल्यांकन के मूलाधार के संबंध में हमें हिंदी के प्रखर समीक्षक मुक्तिबोध की मान्यता अधिक तर्कसंगत प्रतीत होती है। इस संबंध में उनका स्पष्ट मत है:

"महत्वपूर्ण यह बात है कि रूप अपनी स्थिति के लिए तत्व पर ही अवलंबित होता है। तत्व अपने प्रकट होने की प्रक्रिया में रूप को निर्धारित और विकसित करता है। इसलिए तत्व की आलोचना रूप की आलोचना से अधिक मूलभूत है। आपत्ति की जाएगी कि यह तत्व, जो समीक्षा का विषय है, साहित्यिक तत्व है (साहित्य में प्रकट तत्व है) कि जीवन में जिया जाने वाला तत्व। जीवन में जिये जाने वाले तत्व साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र के बाहर की चीज है - यह आपत्ति एकदम निराधार है। (आखिर) साहित्य में प्रकट तत्व की सत्यता की जाँच की कसौटी क्या है? सिद्धांत: समीक्षक की कल्पनाएँ? नहीं, बिल्कुल नहीं। साहित्य में प्रकट तत्व की (जांच की) कसौटी है - वास्तविक जीवन में पाए जाने वाले तत्व।" (नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबंध,) आपके सम्मुख यह उद्धरण इसलिए प्रस्तुत किया गया है क्योंकि इससे अन्तर्वस्तु की महत्ता अपनी सम्पूर्णता में हमारे सामने आ जाती है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि किसी साहित्यिक रचना का रूप या शिल्प पक्ष उपेक्षणीय है। वस्तुत: वह शिल्प ही है, जो किसी रचना को संभव और पूर्ण बनाता है। माध्यम के रूप में शिल्प ही रचना को अधिक मानवीय और प्रेषणीय बनाता है। यह प्रेषणीयता और मानवीयता ही किसी रचना को पूर्ण और सार्थक बनाती है। इसकी उपलब्धि के लिए रचनाकार को श्रमपूर्वक प्रयास करना पड़ता है। यह श्रम ही अन्तर्वस्तु को मानवी गरिमा से मंडित करता है। वस्तु और रूप के संबंध में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य है, वस्तु तत्व के प्रति रूप की अनुकूलता। 'सेवासदन' के भाषिक शिल्प में 'शेखर : एक जीवनी' (अज्ञेय) की रचना नहीं हो सकती। दोनों की शिल्प संबंधी अपनी अपेक्षाएँ हैं। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए भी मुक्तिबोध ने मूल्यांकन में रचनाकार की मूल्य दृष्टि की मानवीयता को अधिक महत्व दिया है। उदाहरण के लिए हम प्रेमचंद के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'गोदान' और अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' को ले सकते हैं। मात्र शिल्प-सौन्दर्य के आधार पर मूल्य निर्णय के खतरे की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है:

"भावना या अनुभूति की प्रभावोत्पादकता वह कसौटी नहीं है, जिसमें हम जीवन के प्रति कवि (रचनाकार) के दृष्टिकोण के औचित्य - अनौचित्य की जाँच कर सकें। कभी-कभी होता यह है कि भावना की रसात्मकता वस्तु-तत्व के अनौचित्य को ढाँक देती है या उस पर पर्दा डाल देती है। .....इसलिए कलाकृति के वस्तु तत्व और उसके प्रति कलाकार की दृष्टि, इन दोनों की समीक्षा और मूल्यांकन आवश्यक है, विशेषकर उस अवस्था में जब कलाकृति के प्रभावोत्पादक गुण अतिशय उत्कर्ष प्राप्त हों और उस स्थिति में पाठकों को भावनाओं में बहाकर.....उन्हें विश्वास में लेकर चुपचाप.....अपने विचारों का डोज़ दे जाते हों। .....ऐसी स्थिति में कलाकृति के साहित्यिक गुण .....निश्चित रूप से खतरा साबित हो सकते हैं।" (कामायनी : एक पुनर्विचार)।

वस्तु और रूप को लेकर प्रेमचंद और अज्ञेय या जैनेन्द्र के तुलनात्मक महत्व को रेखांकित करते हुए हमें उनकी जीवन दृष्टि के औचित्य अनौचित्य को सदैव ध्यान में रखना चाहिए। प्रेमचंद ने अपनी जिस जनतांत्रिक चेतना को उपेक्षित-दलित बहुसंख्यक जनता के उद्धार-उपायों से जोड़कर अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किया है, वह आत्मबद्धता और व्यक्ति निष्ठता से उबार कर पाठकों को समाज की वास्तविक प्रगति की ओर अग्रसर करती है। वस्तुतः प्रेमचंद के रचना-शिल्प को लेकर जो विरोधी प्रतिक्रियाएँ आलोचकों ने प्रस्तुत की हैं, वे केवल रूप या शिल्प तक सीमित न रहकर उनकी अन्तर्वस्तु तक फैल गयी हैं। दरअसल इन प्रतिक्रियाओं का मूलाधार दो विरोधी रुखों, दो विरोधी वर्गीय हितों और रुचियों की टकराहट है। हिंदी के वरिष्ठ आलोचक आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी और प्रेमचंद की टकराहट इसका प्रमाण है, जो इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाती है:

'प्रेमचंद और नन्द दुलारे वाजपेयी के बीच जो विवाद चल पड़ा था, वह वस्तुतः दो प्रवृत्तियों, दो विपरीत सुखों, दो विपरीत रवैयों, दो प्रतिकूल दृष्टिकोणों की आपसी लड़ाई थी। ..... प्रेमचंद की जनतांत्रिक मनोधारा भारतीय संस्कृति के सौन्दर्य लोक में पलने वाले आध्यात्मिक माया-स्वप्नों से अनुस्यूत कलावाद से टकरा जाती थी।'' (मुक्तिबोध : नये साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र)।

इस उद्धरण का तात्पर्य यह है कि हमें 'सेवासदन' के औपन्यासिक शिल्प पर विचार करते हुए अपने को कलावादी आग्रहों से मुक्त रखना पड़ेगा। इसके साथ ही यह भी ध्यान में रखना पड़ेगा कि प्रेमचंद ने इसे क्यों लिखा है, किसके लिए लिखा है और यह किसे संबोधित है। यहाँ यह भी ध्यान में रखना पड़ेगा कि यह प्रेमचंद का पहला महत्वपूर्ण उपन्यास होने के साथ ही हिंदी का भी पहला बड़ा उपन्यास है, जिसने 'चन्द्रकांता' जैसे मनोरंजक उपन्यास से विमुख कर बहुसंख्यक पाठकों को अपनी ओर मोड़ा है और रुचि का परिष्कार भी किया है।

6.3 शिल्प की तलाश का प्रश्न

प्रेमचंद को अपनी रचना की अन्तर्वस्तु की अपेक्षा उसके शिल्प की तलाश में अधिक परेशान होना पड़ा है। उन्होंने अपने प्रथम उपन्यास 'वरदान' के लेखन के दौरान अपने मित्र दयाराम निगम को इस परेशानी के संदर्भ में एक पत्र लिखा था, "मुझे अभी तक इत्मीनान नहीं हुआ कि कौन सा तर्जेतहरीर (शैली) अख्तियार करूँ। कभी तो बंकिम की नकल करता हूँ, कभी आजाद के पीछे चलता हूँ। आजकल काउण्ट टालस्टाय के किस्से पढ़ रहा हूँ। तब से कुछ उसी रंग की तरफ तबियत माइल (झुकी हुई) है। यह अपनी कमजोरी है और क्या।''
'वरदान' यद्यपि मध्यवर्गीय जीवन पर लिखा गया उनका पहला उपन्यास है, तथापि इसमें भी उन्होंने ग्रामीण कृषक समुदाय की दयनीय आर्थिक दशा, उनकी गंदी बस्ती, भूत-प्रेतों और चुड़ैलों पर विश्वास, का विस्तृत चित्रण किया है। इसके लिए विरजन (वृजरानी) को गाँव में दिखा कर पति को लिखे गए उसके पत्रों के माध्यम से ग्रामीण-कृषक जीवन की दुर्दशा, विवेकहीनता और मिथ्या चेतना का उन्होंने विस्तृत चित्रण किया है। वस्तुतः यह सारा कार्य उपन्यास की मूल कथा से प्रसंगेतर है और कथा-संगठन में विक्षेप उत्पन्न करता है। लेकिन उपन्यासकार के सामाजिक सरोकार एवं उसकी जीवन दृष्टि को इसी के माध्यम से समझा जा सकता है।

'सेवासदन' की रचना में प्रेमचंद ने ऐसा कृत्रिम विधान तो नहीं किया है, फिर भी बहुत सारे ऐसे प्रसंग अवश्य चित्रित हुए हैं, जो पाठक को प्रसंगेतर विषयों की ओर ले जाते हैं और कथा प्रवाह को क्षतिग्रस्त करते हैं। लेकिन ऐसा लगता है इसमें उन्हें अपनी तर्जेतहरी (शैली) की प्राप्ति में काफी सफलता मिली है। इस तथ्य को हम 'सेवासदन' के वस्तु-संगठन पर विचार करते हुए आगे समझने का प्रयास करेंगे।

6.4 'सेवासदन' का वस्तु-संगठन और उसकी औपन्यासिकता

अत्यंत व्यापक जीवन क्षेत्र, विस्तृत और वैविध्यपूर्ण सामाजिक पटल ग्रहण करने के कारण प्रेमचंद के उपन्यासों में कथा-वस्तु के संगठन और उसकी एकतानता के संबंध में प्राय: आक्षेप किया जाता है। 'सेवासदन' के वस्तु-संगठन पर विचार करते हुए हमें इस तथ्य पर विशेष ध्यान देना होगा कि यह केवल उनका ही नहीं, वरन् हिंदी का भी पहला महत्वपूर्ण उपन्यास है। प्रेमचंद ने अपने औपन्यासिक शिल्प के निर्माण के लिए चाहे जितना प्रभाव बंगला, मराठी और अंग्रेजी उपन्यासों से ग्रहण किया हो, लेकिन इसमें उनकी मौलिकता सर्वत्र विद्यमान है। उन्होंने अपनी किस्सागोई के लिए जिस प्रकार भारतीय लोककथाओं, पंचतंत्र, कथा सरित्सागर आदि का सहारा लेकर उसे भारतीय रूप दिया है, ठीक उसी तरह उपन्यास के वस्तु-संगठन के लिए भारतीय जीवन के व्यापक यथार्थ को मूलाधार बनाया है। इस अपेक्षा की पूर्ति के लिए प्रसंगेतर महत्वपूर्ण तथ्यों के लिए मूल कथा-सूत्र से अलग हटकर अपनी मौलिक रचना-पद्धति का परिचय दिया है। औपन्यासिक शिल्प के लिए किसी पूर्व निर्मित या कल्पित ढाँचे में अपने को आबद्ध न कर उन्होंने अपने मूल सामाजिक सरोकार और जीवन दृष्टि की उपस्थिति को अधिक महत्व दिया है। इसका पता 'सेवासदन' के आरंभ में ही लग जाता है।

दारोगा कृष्णचन्द्र की संक्षिप्त कथा के तुरंत बाद वे साधुओं की गद्दी के महंत रामदास की कथा का सन्निवेश करते हैं। इसमें उनकी लम्बी-चौड़ी जमीन जायदाद, सूदखोरी और धर्म के नाम पर रियाया (प्रजा) पर अत्याचार का वे विस्तृत दृश्य उपस्थित करते हैं। तीर्थ यात्रा से लौटे महंत रामदास द्वारा आयोजित यज्ञ के लिए अपनी विवशता के कारण गरीब किसान चैतू पाँच रुपये चन्दा देने से इन्कार कर देता है। इसके दंड के लिए कई महात्माओं द्वारा चैतू को ठाकुरद्वारे के सामने लाकर इतना पीटा जाता है कि उसकी मृत्यु हो जाती है। इस घटना के माध्यम से प्रेमचंद ने जगह-जमीन के मालिक मठाधीशों के क्रूर शोषण का एक स्पष्ट संकेत दिया है, जिसकी पूर्णाहुति अगले उपन्यास 'प्रेमाश्रम' में होती है। लेकिन इस घटना के अलग प्रभाव के बावजूद इससे उपन्यास के वस्तु-संगठन में विशेष विक्षेप नहीं आता। क्योंकि चैतू की हत्या के कारण अपराधी महंत रामदास से दारोगा कृष्णचन्द्र को रिश्वत लेने का अवसर मिलता है, जिससे उपन्यास की नायिका सुमन के जीवन की त्रासदी का आरंभ होता है।

इसी प्रकार उपन्यास के बारहवें परिच्छेद में सदन सिंह के अंधेरे में घर से भाग कर चाचा पद्म सिंह के पास काशी जाते हुए भयभीत होने के माध्यम से प्रेमचंद ने ग्रामीण जीवन में व्याप्त अंध विश्वासों का चित्रण किया है। पीपल के पेड़ पर भूतों के अड्डे, भूतों के सरदार कमली वाले भूत का खड़ाऊँ पहन कर निकलना, भूतों का गाना, उनकी पंचायत आदि के माध्यम से निराधार अंध विश्वासों से पर्दा उठाया गया है। इससे मूल कथा में विषयान्तर हुआ है।

'सेवासदन' के तीसवें परिच्छेद को प्रेमचंद ने वेश्याओं को नगर से बाहर निकालने की समस्या के संदर्भ में म्यूनिसिपैलिटी में प्रस्तुत किए जाने वाले प्रस्ताव से संबद्ध किया है। लेकिन इसमें आठ मुसलमान और दस हिंदू सदस्यों के बीच अलग-अलग जातीय गुटों की जो बैठक होती है, उसमें साम्प्रदायिक समस्या की वास्तविकता को रेखांकित किया गया है। यहाँ प्रेमचंद ने सबसे पहले मुसलमान सदस्यों की पारस्परिक चर्चा का आयोजन किया है। इनमें मौलाना तेग अली इमाम बाड़े के वली (संरक्षक), मुसलमानों के प्रिय नेता हाज़ी हाशिम, इत्र और तेल के कारखाने के मालिक और बड़े दुकानदार मुंशी अबुलवफा आदि अपने धार्मिक राजनीतिक और आर्थिक व्यापारिक हितों के कारण इस्लामी साम्प्रदायिकता के पक्ष में वेश्या समस्या पर अपने संकुचित दृष्टिकोण को व्यक्त करते हैं, शहर में बस गए जमींदार मुंशी अब्दुल्लतीफ, वकील शाकिरबेग और शरीफ हसन जातीय सद्भावना और उदार राष्ट्रीय भावों के समर्थक के रूप में प्रस्ताव के समर्थन के पक्ष में थे। जबकि पेंशन याफ्ता डिप्टी कलक्टर सैयद शफकत अली और प्रसिद्ध हकीम (वैद्य) शोहरत खां अपनी उदारता के बावजूद प्राय: तटस्थता का रुख अपनाए हुए

थे। यहाँ विभिन्न तबके के मुस्लिम सदस्यों के आंतरिक चरित्र को प्रेमचंद ने अच्छी तरह उजागर किया है।

लगभग यही स्थिति इकतीसवें परिच्छेद में हिंदू सदस्यों की भी है। म्युनिसिपैलिटी बोर्ड के चेयरमैन सेठ बलभद्रदास चौक के आसपास के बहुत से मकानों के मालिक थे। डॉ. श्यामाचरण बोर्ड के वाइसचेयरमैन और सरकार के नामित थे। लाला चिम्मनलाल और दीनानाथ तिवारी व्यापारियों के नेता और दालमंडी की कई दुकानों के मालिक होने के साथ सूद-ब्याज का व्यवसाय भी करते थे। ठेकेदार लाला भगतराम का कारोबार चिम्मनलाल के सहारे चलता था। ये सभी हिंदू साम्प्रदायिकता के वाहक होने में ही अपना हित समझते थे। अत: वेश्याओं के स्थानान्तरण को भी ये साम्प्रदायिकता का रंग दे रहे थे। वकील पद्म सिंह और रुस्तम भाई, प्रोफेसर रमेश दत्त तथा पत्रकार प्रभाकर राव प्रस्ताव के पक्ष में थे। साथ ही ये अत्यंत उदार और साम्प्रदायिक सद्भाव के भी समर्थक थे। डॉ. श्यामाचरण की गर्दन सरकार के पाँवों तले दबी थी। लेकिन जिले के सबसे बड़े जमींदार कुंवर अनिरुद्ध बहादुर सिंह पढ़े-लिखे, साहित्य और संगीत में रुचि लेने वाले अत्यन्त विशाल और उदार हृदय के व्यक्ति थे। वेश्याओं के निष्कासन में तो इनकी विशेष रुचि नहीं थी, लेकिन वेश्यालयों के खाली हो जाने पर वे भुवनबाई के आवास पर 'कृषि सहायक सभा' की स्थापना करते हैं। वेश्या समस्या के वास्तविक समाधान और हिंदी साहित्य संबंधी अपनी मान्यताओं में वे एक तरह से प्रेमचंद का प्रतिनिधित्व करते हैं। अपने इस रूप में वे 'गोदान' के मेहता के आरंभिक रूप में प्रस्तुत हुए हैं।

'सेवासदन' के औपन्यासिक शिल्प में इस तरह के प्रसंगों को विस्तार देना कथा-रस में बाधक भले हो, लेकिन इससे प्रेमचंद की रचना-पद्धति ही नहीं, वरन् रचना धर्मिता का भी एक नया आयाम प्रस्तुत हुआ है। इन प्रसंगों में सुमन और उपन्यास की मूल कथा प्राय: गायब रही है। बावजूद इसके उपर्युक्त प्रसंग को विषयान्तर नहीं कहा जा सकता।

उपन्यास की संरचना, विशेष रूप से औपन्यासिक शिल्प पर विचार करते हुए पात्रों के चयन, पात्र-रचना और अंत तक उनके निर्वाह का कौशल विशेष महत्व रखता है। इस दृष्टि से देखें तो 'सेवासदन' अपेक्षाकृत अधिक सुगठित कथानक से युक्त रचना है। लेखक ने यथा संभव उपन्यास में सन्निविष्ट पात्रों के चरित्रांकन और उनकी पारस्परिकता का निर्वाह किया है। प्रेमचंद के दो सर्वोत्तम उपन्यासों 'रंग भूमि' ओर 'गोदान' की तरह इसमें बिखराव नहीं मिलता। बावजूद इसके औपन्यासिक शिल्प की दृष्टि से 'सेवासदन' की एक बहुत बड़ी कमजोरी की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना जरूरी है। वह कमजोरी है, गजाधर पाण्डेय का कायाकल्प और उपन्यास का अंत। इस संबंध में डॉ. राम विलास शर्मा ने लिखा है, "सुमन का पति गजाधर संन्यासी हो गया है। उसे अपने कर्मों पर पश्चाताप हुआ है और अब वह स्त्रियों के उद्धार का काम करने लगा है। वह सुमन को बचा लेता है और वह 'सेवासदन' का काम संभालने लगता है। सभी आलोचकों ने लक्ष्य किया है कि यह अंत उपन्यास का निर्बल अंत है।"

लगता है, 'सेवासदन' के इस अंत से प्रेमचंद सावधान हुए हैं और 'रंगभूमि' तथा 'गोदान' को इससे बचाया है। स्वामी गजानंद के रूप में गजाधर का अचानक नाटकीय ढंग से प्रकट हो जाना, कभी उमानाथ के सामने तो कभी आत्म हत्या की ओर उन्मुख दारोगा कृष्णचंद्र और सुमन के सामने। सबसे अधिक अस्वाभाविक तो वह दृश्य है जब दिक्भ्रमित सुमन के स्वप्न में गजानंद का प्रवेश होता है। स्वप्न में उनका प्रवचन सुनकर जागने पर उन्हें साक्षात् अपने सामने देखती है। लेकिन उनके पीछे चलने के बावजूद उन्हें प्राप्त नहीं कर पाती। एक अज्ञात शक्ति जैसे उसे गजानंद की कुटी के द्वार पर पहुँचा देती है। वहाँ स्वामी गजानंद निद्रालीन हैं और काफी देर से वहीं है। वे भी स्वप्न में सुमन से मिलने और प्रवचन करने की बात करते हैं। यह स्वप्न से स्वप्न का मिलन और बाद में उसका रहस्य बने रहना, प्रेमचंद जैसे जागरूक और अंध विश्वास विरोधी लेखक की प्रकृति के विरुद्ध है। बावजूद इसके एक प्रारंभिक

महत्वपूर्ण उपन्यास के रूप में 'सेवासदन' ने हिंदी पाठकों के बीच प्रेमचंद की एक पहचान निर्मित की है। आलोचकों को चाहे देर लगी हो, लेकिन साधारण पाठकों को इसमें उनका वास्तविक लेखक मिल गया।

6.5 पात्र-संरचना और भाषा की समस्या

प्रेमचंद की पात्र-रचना और पात्रों के चयन संबंधी विशेषताओं की थोड़ी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। यहाँ समाज के विशिष्ट क्षेत्रों से चुने गए पात्रों और स्वयं उपन्यासकार द्वारा निर्मित पात्रों की चर्चा उनकी भाषा के संदर्भ में की जाएगी। वस्तुत: इस मुद्दे का संबंध विभिन्न पात्रों के कथोपकथन, उनकी निजी भाषा के साथ ही उपन्यास के समूचे भाषिक शिल्प से भी है। 'सेवासदन' मूलत: 'बाजारे हुस्न' नाम से पहले उर्दू में लिखा गया था, जिसका हिंदी अनुवाद 1918 में कलकत्ता से पहले प्रकाशित हुआ। प्रेमचंद की भाषा पर विचार करते हुए इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा कि उनका साहित्यिक लेखन उर्दू से आरंभ हुआ है। साहित्यिक उर्दू का अपेक्षाकृत उन्हें अधिक ज्ञान था। लेकिन भाषा के महत्व पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है कि "जिस तरह यूरोप में प्रवेश पाने के लिए किसी रचना का अंग्रेजी या फ्रेंच में आना आवश्यक है, उसी तरह भारत की जनता के सामने आने के लिए तब हिंदी में लिखना आवश्यक हो जाए।" यही कारण है कि उर्दू के 'बाजारे हुस्न' को उन्होंने हिंदी में 'सेवासदन' नाम से पहले प्रकाशित करवाया।

उपन्यास लोक जीवन की व्यापक अपेक्षाओं के दबाव से एक साहित्यिक विधा के रूप में अस्तित्व में आया है। इसलिए रैल्फ फॉक्स ने 'उपन्यास और लोकजीवन' नामक अपनी रचना में जहाँ उसे आधुनिक लोक जीवन का महाकाव्य कहा है, वहीं उसकी भाषा को जीवन का गद्य कहा है। सामाजिक जीवन के जिस पहलू या जिस तबके को उपन्यास का विषय बनाया जाता है, वह क्षेत्र ही उपन्यास की भाषा का आदर्श होता है। प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में भाषा के संदर्भ में इसी आदर्श को ग्रहण किया है। व्यावहारिक रूप से देखें तो प्रेमचंद के उपन्यासों में लोकजीवन में स्वीकृत आम भाषा को ही आधार बनाया गया है। यही प्रेमचंद की अपनी भाषा है। 'सेवासदन' में भी उनकी कोशिश रही है कि आम स्थितियों और घटनाओं के चित्रण में उसी भाषा का प्रयोग किया जाए। लेकिन विशेष मन:स्थितियों के चित्रण में उनकी शैली बदल जाती है। विशेष परिस्थितियों के उतार-चढ़ाव में अपने पात्रों के आंतरिक चरित्र को उजागर करने के लिए वे विशेष प्रकार की शब्दावली का सहारा लेते हैं। 'सेवासदन' का आरंभ इन पंक्तियों से होता है, "पश्चाताप के कड़वे फल कभी-न-कभी सभी को चखने पड़ते हैं, लेकिन और लोग बुराइयों पर पछताते हैं, दारोगा कृष्णचंद्र अपनी भलाइयों पर पछता रहे थे।" इस तरह के व्यंग्य का सहारा लेना प्रेमचंद की भाषा को सपाट नहीं रहने देता। दीन-हीन गरीब और बूढ़े किसान चैतू द्वारा यज्ञ के लिए चन्दा देने से इन्कार करने पर ठाकुरद्वारे पर उसके साथ धर्म के ठेकेदारों ने जो क्रूर अत्याचार किया, उसका चित्रण करते हुए प्रेमचंद ने लिखा है, "ठाकुर जी ऐसे द्रोही को भला कैसे क्षमा करते? ठाकुरद्वारे के सामने उस पर मार पड़ने लगी। चैतू भी बिगड़ा। हाथ तो बंधे हुए थे, मुँह से लात-घूंसों का जवाब देता रहा। इतना कष्ट देकर भी ठाकुरजी को संतोष नहीं हुआ, उसी रात उसके प्राण हर लिए।" इस प्रसंग के माध्यम से प्रेमचंद ने तथाकथित धार्मिक आध्यात्मिक मठों की क्रूरता का पर्दाफाश किया है और ठाकुरद्वारे के भगवान की विडम्बना को भी उजागर किया है।

इस तरह का प्रयोग प्रेमचंद ने अपने पात्रों के पारस्परिक वार्तालाप में भी किया है। रिश्वत लेने की बात अपनी पत्नी से दारोगा कृष्णचंद्र सीधे नहीं बताते। उसकी चिंता को महसूस कर कृष्णचन्द्र राज को खोल देना चाहते हैं - लेकिन साफ शब्दों में नहीं! इसके लिए प्रेमचंद ने उनके गूढ़ सम्वाद की इस प्रकार योजना की है :

"कृष्णचंद्र - यदि तुम नदी किनारे खड़ी हो और पीछे से एक शेर तुम्हारे ऊपर झपट पड़े तो तुम क्या करोगी?

गंगाजली - नदी में चली जाऊँगी।

कृष्णचंद्र - चाहे डूब ही जाओ?

गंगाजली - हाँ डूब जाना शेर के मुँह में पड़ने से अच्छा है।

गंगाजली उनके आशय को समझ जाती है और कृष्णचंद्र कह देते हैं कि 'मैं कूद पड़ा हूँ। बचूँगा या डूब जाऊँगा। यह मालूम नहीं।''

सुमन के माध्यम से इस प्रकार की व्यंग्य भंगिमा को स्थान-स्थान पर उजागर किया गया है। अपनी छोटी बहन शान्ता के प्रति अन्याय को देखकर सुमन सदन सिंह को फटकारते हुए कहती है, "तुमने उसके साथ अत्याचार इसलिए किया है कि मैं उसकी बहन हूँ, जिसके पैरों पर तुमने वर्षों नाक रगड़ी है। ..... तब तुम्हारे दुष्कर्मों से खानदान की नाक कटती थी? आज तुम आकाश के देवता बने फिरते हो। अँधेरे में जूठा खाने पर तैयार पर उजाले में निमंत्रण भी स्वीकार नहीं।'' इस तरह के व्यंग्यात्मक भाषा-शैली का सहारा प्रेमचंद ने तथाकथित अभिजन समुदाय के आन्तरिक चरित्र का पर्दाफाश करने के लिए प्राय: लिया है।

कथा साहित्य विशेषत: उपन्यास में पात्रानुकूल भाषा का एक प्रकार से परम्परागत आग्रह रहा है। औपन्यासिक शिल्प में प्रेमचंद ने इस प्रकार के बहुत सारे आग्रहों की उपेक्षा की है। लेकिन उपन्यास के तीसवें परिच्छेद में म्यूनिसिपैलिटी के मुसलमान सदस्यों के लम्बे विचार-विमर्श में जिस अरबी-फारसी शब्दों से लदी उर्दू भाषा का प्रयोग हुआ है, वह सामान्य हिंदी पाठकों के लिए अत्यन्त दुरूह हो गयी है। इसके लिए एकाध उदाहरण पर्याप्त होंगे, "शाकिर बेग बोल उठे - भाई साहब, यह तान-तंज का मौका नहीं।.....जबाने तेज मसलहत के हक में जहरे कातिल है। मैं शाहिदान तन्नाज का निजाम तमद्दुन में बिल्कुल बेकार या मायएशर नहीं समझता।'' इसी तरह 'फजल', 'इजादारी', 'मौलूद', जाती फैल, 'मजमुई', 'अजो', 'अकवाम' 'मरकज', 'हद्दूद', 'अकायद', 'इमामा', 'तसकीन', 'मफाद', 'इखराज', 'सादिर', 'बकअत', 'मिल्लत', 'बेहदूदी', आदि बहुत सारे अरबी-फारसी के बोल-चाल की हिंदी में अपरिचित शब्द पर्याप्त खटकते हैं। लेकिन अपने अगले लगभग सभी उपन्यासों में प्रेमचंद ने मुस्लिम पात्रों के संदर्भ में भी इस प्रकार के गूढ़ शब्दों का प्रयोग नहीं किया है।

भाषिक प्रयोग के संदर्भ में ही प्रेमचंद की किस्सागोई पर भी विचार कर लेना अपेक्षित है। यह कला उन्होंने भारतीय लोकजीवन में प्रचलित कथा शैली से ग्रहण किया है। 'सेवासदन' में आरंभ से अन्त तक किस्सागो के कौशल को देखा जा सकता है। कहीं से कोई पृष्ठ खोल लीजिए - इसकी बानगी सर्वत्र मिलेगी। परिच्छेद तैंतीस की आरंभिक पंक्तियों का एक उदाहरण है, "सदन के विवाह का दिन आ गया। चुनार से बारात अमोला चली। .....वैभव और दरिद्रता, का अत्यन्त करुणात्मक दृश्य था। पालकियों पर कारचोबी के परदे पड़े हुए थे, लेकिन कहारों की वर्दियाँ फटी और बेडौल थीं। गंगाजमुनी सोटे और बारात में फटेहाल मजदूरों के हाथों में बिल्कुल शोभा नहीं देता था।'' चाहे वार्तालाप या कथोपकथन का विधान हो चाहे चित्रण-प्रेमचंद की यह कला कथा प्रवाह को निरंतर बनाए रखती है। इन विशेषताओं के कारण 'सेवासदन' एक सफल उपन्यास माना जा सकता है।

6.6 प्रभावान्विति का प्रश्न और शीर्षक की सार्थकता

प्रभावान्विति की समस्या औपन्यासिक शिल्प की सफलता का अभिन्न हिस्सा है। इसका निर्णय उपन्यास के मुख्य पात्र और उसमें उठाई गई प्रमुख समस्या के आधार पर ही किया जा सकता है। 'सेवासदन' की प्रमुख पात्र सुमन है और प्रमुख समस्या मध्यवर्गीय नारी-मुक्ति या उसकी

स्वाधीनता की समस्या है। इसके साथ वेश्या-जीवन और उसकी विकृतियों को भी जोड़कर दिखाया गया है। इसी के साथ दहेज प्रथा, अनमेल विवाह, लड़की के प्रति माँ-बाप की उत्तरदायित्वहीनता, पति का संदेह, समाज में पुरुष वर्चस्व आदि के मुद्दे भी सावधानीपूर्वक जोड़ दिए गए हैं। लेकिन सुमन के माध्यम से अपनी मूल समस्या का समाधान प्रेमचंद एक व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में करना चाहते थे। इसलिए वे अपनी दृष्टि केवल सुमन तक ही केंद्रित नहीं रखते। जबकि अधिकांश उपन्यासकार प्रधान पात्र को कथा पट से ओझल नहीं होने देते। इससे कथा संगठन बना रहता है और पाठक की रुचि अटूट घटना प्रवाह से लगातार तृप्त होती रहती है। लेकिन प्रेमचंद आँख मूँदकर ऐसा नहीं करते। वे मूल कथा की समूची पृष्ठभूमि को पाठक के सामने रखने में विश्वास करते हैं।

फलस्वरूप 'सेवासदन' में महंत रामदास, म्यूनिसिपैलिटी के तमाम सदस्य अपने निहित स्वार्थों को लेकर उपस्थित हैं। सेठ-साहूकार, महाजन, जमींदार, समाज सुधारक, अध्यापक, वकील, पत्रकार, गृहणियाँ, वेश्याएँ आदि पात्र के रूप में इस उपन्यास में अपनी सामाजिक भूमिका की गवाही देते हैं। सबकी विभिन्न भूमिकाओं के बावजूद प्रेमचंद प्रभांवान्विति के प्रति काफी सावधान हैं। इसके लिए वे उपन्यास के आदि, मध्य और अन्त को एकसूत्रता प्रदान करते हैं। उपन्यास का अन्त समाधान की कृत्रिमता के कारण कुछ कमजोर अवश्य हुआ है, लेकिन इसके माध्यम से प्रेमचंद ने प्रभावान्विति की शर्त को पूरा करने का प्रयास किया है। जिन्दगी भर संघर्षशील रहकर सुमन, चाहे अपने पति गजाधर के माध्यम से ही सही, 'सेवासदन' की मुख्य सेविका बनकर अपनी स्वाधीनता को प्राप्त करती है। इस तरह प्रभावान्विति की दृष्टि से भी 'सेवासदन' को एक सफल उपन्यास कहा जा सकता है।

किसी रचना की अन्तर्वस्तु और उसके शिल्प तंत्र से उसका शीर्षक भी अभिन्न रूप से जुड़ा होता है। उर्दू के 'बाजारे हुस्न' शीर्षक का हिंदी में 'सेवासदन' में रूपान्तरण एक विशेष तथ्य की ओर संकेत करता है। कहाँ बाजारे हुस्न और कहाँ सेवासदन। शीर्षक की अपेक्षाओं के सबंध में प्राय तीन-चार बातें कही जाती हैं - उसे आकर्षक होना चाहिए, प्रमुख पात्र, प्रमुख घटना या रचना के उद्देश्य से जुड़ा होना चाहिए। 'सेवासदन' में सदन या आश्रम की स्थापना अंतिम घटना है। अपने आरंभिक उपन्यासों में 'प्रतिज्ञा', 'वरदान', 'प्रेमाश्रम' आदि की भांति 'सेवासदन' में भी, प्रेमचन्द आश्रमवादी-सुधारवादी दौर से गुजर रहे थे। सेवासदन की स्थापना वेश्या कन्याओं के सुधार गृह के रूप में कल्पित है। इससे प्रेमचंद ने अपने प्रमुख पात्र सुमन को केवल जोड़ा ही नहीं है, वरन् पराधीनता से उसकी मुक्ति का समुचित माध्यम भी बनाया है। उसकी स्वाधीनता की कामना न पति-गृह में पूरी हो पाई, न पद्मसिंह के आश्रम में ही। वेश्या जीवन की स्वाधीनता उसे छद्म के रूप में प्रतीत हुई। विधवाश्रम और शान्ता सदन के यहाँ रह कर भी वह अपनी स्वाधीनता और आत्म सम्मान की अपेक्षाओं को पूरा नहीं कर सकी। जीवन के अंतिम पड़ाव में ही उसे अपनी स्वाधीनता की परिकल्पना साकार होती दिखाई दी। इस तरह से देखें तो 'सेवासदन' शीर्षक जहाँ एक ओर प्रेमचंद के सामाजिक सरोकार की एक अपेक्षा को पूरा करता है, वहीं प्रमुख पात्र सुमन से जुड़कर उसकी अपेक्षाओं को भी पूरा करता है। इन अपेक्षाओं की पूर्ति के साथ शीर्षक उपन्यास के आदि से अंत तक को जोड़कर प्रभावान्विति में भी सहायक बनता है। अत: 'सेवासदन' इस प्रकार अपनी सार्थकता सिद्ध कर देता है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में 'सुरक्षा गृह' तथा 'कल्याण केंद्रों' की व्यवस्था का पूर्ण रूप में प्रस्तुत 'सेवासदन' प्रेमचंद की दूरदर्शिता का भी संकेतक बना है।

6.7 प्रेमचंद की रचना-दृष्टि

'सेवासदन' की अन्तर्वस्तु के विश्लेषण में आपका ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट किया जा चुका है कि प्रेमचंद एक गंभीर सामाजिक सरोकार के रचनाकार रहे हैं। उनका यह सरोकार देश की बहुसंख्यक जनता के उद्धार उपायों से जुड़ा रहा है, जिसमें नारी समुदाय का उद्धार भी

एक महत्वपूर्ण मुद्दा था। उन्होंने 'सेवासदन' में इसे ही प्रमुख मुद्दा बनाया है। बावजूद इसके, प्रेमचंद ने इस उपन्यास में शोषक वर्ग से सम्बद्ध सेठ-साहूकार, महाजनों, मठाधीश, महंत रामदास, वकील, अध्यापक, पत्रकार, डाक्टर-हकीम के साथ ही कुंवर अनिरुद्ध सिंह जैसे बड़े जमींदार की अवतारणा द्वारा अपनी रचना दृष्टि का स्पष्ट परिचय दिया है। यही नहीं उन्होंने साम्प्रदायिक विद्वेष, वोट की राजनीति, धार्मिक-सामाजिक पाखंड, विगलित सामाजिक रीति रिवाजों को उपन्यास की अन्तर्वस्तु बनाते हुए अपनी मानवी दृष्टि का पूरा संकेत दिया है। इस कार्य के लिए उन्होंने मध्यवर्गीय नारी से भिन्न शहरी जीवन से लिए गए विभिन्न पात्रों के चारित्रिक गुणों अवगुणों का विश्लेषण करते हुए उनके बारे में अपनी स्पष्ट राय जाहिर की हैं। जैसा कि हम पहले उल्लेख कर चुके है कि कुंवर अनिरुद्ध सिंह तो जैसे प्रेमचंद की दृष्टि का प्रतिनिधि बनकर उपन्यास में आए हैं। वे अपनी वर्गीय सीमाओं का अतिक्रमण करके शोषित-उत्पीड़ित ग्रामीण किसान-मजदूर के उद्धार की बात करते हुए, उपन्यासकार की भाषा एवं साहित्य संबंधी मान्यताओं के भी प्रवक्ता बन गए हैं। इस विषय में खंड की पहली इकाई के अंत में अन्तर्वस्तु के संदर्भ में विभिन्न पात्रों की स्थिति पर विचार करते हुए कुंवर अनिरुद्ध सिंह की भूमिका पर किंचित विस्तार से प्रकाश डाला जा चुका है। इन सारे तथ्यों से एक समाजनिष्ठ रचनाकार के रूप में प्रेमचंद की मूल दृष्टि का परिचय मिल जाता है।

वेश्यावृत्ति के उन्मूलन के संदर्भ में कुंवर अनिरुद्ध सिंह ने जो विचार प्रकट किए हैं, वे प्रेमचंद की व्यापक जीवन-दृष्टि के ही परिचायक हैं। इस संबंध में कुंवर अनिरुद्ध सिंह ने कहा है :

"हमें वेश्याओं को पतित समझने का कोई अधिकार नहीं है।..... जिस दिन नजराना, रिश्वत और सूद-दर-सूद का अंत होगा, उसी दिन दालमंडी उजड़ जाएगी, ये चिड़ियाँ उड़ जाएँगी - पहले नहीं।"

कुंवर साहब समाज से जिन विकृतियों के अंत की बात करते हैं, उन्हीं से दीन-हीन, किसान-मजदूर और दलितों का भी उद्धार संभव है। यही प्रेमचंद की जीवन-दृष्टि भी है। अत: वेश्या-उद्धार की समस्या व्यापक सामाजिक संदर्भों से जुड़ी हुई है। जब तक आमूल सामाजिक परिवर्तन नहीं होता, वेश्या-उद्धार या नारी मात्र का उद्धार संभव नहीं है। यही प्रेमचंद का सामाजिक सरोकार रहा है। 'सेवासदन' की इसी बात को 'गोदान' में मेहता ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है, "जब तक जड़ पर कुठाराघात नहीं होगा, तब तक पत्ते नोचने से कोई फायदा नहीं है।" - यही प्रेमचंद की रचना-दृष्टि है।

6.8 सारांश

इकाई-5 में हमने 'सेवासदन' की अन्तर्वस्तु पर विस्तार से विचार किया है। अन्तर्वस्तु को अधिक प्रेषणीय बनाने के लिए औपन्यासिक शिल्प की सफल योजना की विशेष भूमिका होती है। प्रस्तुत इकाई में औपन्यासिक शिल्प की संरचना पर विचार करते हुए अन्तर्वस्तु के संदर्भ में उसकी भूमिका को स्पष्ट किया गया है।

- इस इकाई में सर्वप्रथम रचना के वस्तु-तत्व और उसके शिल्प के सहसंबंध पर विचार किया गया है। इसमें हमने यह भी बताया कि रचनाकार अपने वस्तु-तत्व के अनुरूप उसके रूप या शिल्प का नियोजन करता है। वस्तुत: तत्व की उपस्थिति, प्राथमिक होती है जिसके लिए शिल्प माध्यम बनता है। अत: रचना का वस्तु-तत्व और उसमें व्यक्त रचनाकार की अंतर्दृष्टि ही मूल्यांकन का मूलाधार बनती है। स्वयं प्रेमचंद को अपने वस्तु-तत्व के लिए उसके रूप या शिल्प की तलाश में किन चुनौतियों का सामना करना पड़ा और इस तलाश का उपयोग अपने 'सेवासदन' में उन्होंने किस प्रकार किया, इसकी चर्चा भी हमने इकाई में की। रचना-पद्धति के संदर्भ में 'सेवासदन' के वस्तु-संगठन पर विचार करते समय यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि प्रेमचंद बहुत

सारे उपन्यासकारों की भाँति सुनियोजित सुसंगठित कथा वस्तु के विन्यास के परम्परागत आग्रह का कड़ाई से पालन करने के पक्ष में नहीं रहे हैं। सेवासदन' में उन्होंने अपने प्रमुख पात्र और उसके माध्यम से उठाई गयी समस्या को पूरे सामाजिक संदर्भ में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

- इकाई में हमने उपन्यास की प्रभावान्विति की भी चर्चा की। यहाँ यह दिखाने का प्रयास किया कि क्या समुचित वस्तु-संगठन के अभाव में प्रभावान्विति को कोई क्षति पहुँची है? प्रेमचंद सेवासदन' में प्रभावान्विति के प्रति अत्यन्त सावधान दिखाई देते हैं। उन्होंने उपन्यास के आरंभ से अंत को आग्रहपूर्वक जोड़ने का प्रयास किया है। इससे अंत के समाधान में कुछ कृत्रिमता और अस्वाभाविकता भी आ गई है। इस कमजोरी के बावजूद प्रभाव की एकता का सेवासदन' में समुचित संपादन हुआ है।

- वस्तु-संगठन के किंचित अभाव और कुछ प्रसंगेतर घटनाओं और पात्रों की रचना द्वारा प्रेमचंद ने जहाँ एक ओर मूल समस्या को व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान किया है, वहीं दूसरी ओर अपनी लेखकीय दृष्टि को भी कुशलतापूर्वक अभिव्यंजित किया है। इस संबंध में हमने यह विशेष रूप से बताने का प्रयत्न किया है कि इसके लिए कुछ विशिष्ट पात्रों और स्थितियों की अवतारणा प्रेमचंद को करनी पड़ी है। पात्र के रूप में जिले के एक बड़े जमींदार कुंवर अनिरुद्ध सिंह की अवतारणा और साम्प्रदायिकता, वोट की राजनीति तथा वर्गीय आर्थिक हितों से प्रेरित म्यूनिसिपैलिटी के प्रमुख सदस्यों की वार्ता को इसका उदाहरण बनाया गया है। इनके माध्यम से ही प्रेमचंद की रचना-दृष्टि इस उपन्यास में साकार हुई है।

6.9 अभ्यास प्रश्न

1. औपन्यासिक शिल्प की अपेक्षाओं के अनुरूप 'सेवासदन' के वस्तु-संगठन की स्थिति पर विचार कीजिए।

2. सेवासदन' की पात्र-रचना या पात्रों के चयन में अपनाई गई प्रेमचंद की युक्तियों पर विचार कीजिए।

3. सेवासदन' में व्यक्त प्रेमचंद की रचना-दृष्टि पर आलोचनात्मक ढंग से विचार कीजिए।

इकाई 7 सेवासदन की नायिका (सुमन)

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 सुमन : दारोगा कृष्णचन्द्र की कन्या के रूप में

7.3 सुमन : पं. गजाधर की पत्नी के रूप में

7.4 सुमन : वेश्या के रूप में

7.5 सुमन : विधवाश्रम की सेविका के रूप में

7.6 सुमन : परिवार की सदस्या के रूप में

7.7 सुमन : सेवासदन की संचालिका के रूप में

7.8 सुमन के चरित्रांकन में निहित प्रेमचंद का उद्देश्य

7.9 सारांश

7.10 अभ्यास प्रश्न

खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

7.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में 'सेवासदन' की प्रमुख पात्र सुमन के चरित्र पर उसकी जीवन-यात्रा के विभिन्न चरणों में विभक्त कर, प्रकाश डाला जाएगा।

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- 'सेवासदन की नायिका 'सुमन' की निजी विशेषताओं का परिचय दे सकेंगे;
- सुमन पति-ग्रह का त्याग करने के बाद किस प्रकार वेश्यावृत्ति के लिए विवश होती है, इसकी चर्चा कर सकेंगे;
- वेश्यालय से सेवासदन तक की सुमन की उपेक्षापूर्ण यात्रा का विवेचन कर सकेंगे; और
- 'सुमन के रूप में प्रेमचंद की एक अनोखी सृष्टि और उसके पीछे निहित लक्ष्य की जानकारी दे सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

सुमन के रूप में प्रेमचंद ने हिंदी कथा साहित्य का ऐसा पहला नारी पात्र उपस्थित किया है, जो आत्मसम्मान की रक्षा के लिए संघर्ष के मार्ग पर दृढ़ता से पाँव उठाता है। प्रेमचंद ने सुमन जैसे चरित्र की परिकल्पना युगीन अपेक्षाओं के दबाव के कारण ही की है। उनके समय तक नारी मुक्ति को लेकर कई सुधार कार्य चल रहे थे। नारी शिक्षा से लेकर विधवा समस्या के समाधान, उनके पुनर्विवाह और उनकी सुरक्षा के लिए विधवाश्रमों की स्थापना आदि के जोरदार आंदोलन चल रहे थे। आर्य समाज के कार्यकर्ता इन क्षेत्रों में काफी सक्रिय थे। लेकिन वेश्याओं के प्रति हिंदू समाज का दृष्टिकोण अत्यंत उपेक्षाभाव से भरा हुआ था। वह उसके उद्धार कार्य को प्रायः असंभव मानकर सामाजिक सुधार के लिए उन्हें शहर के मुख्य भाग से हटाने, विभिन्न धार्मिक-सामाजिक समारोहों में उन्हें बुलाए जाने पर रोक लगाने पर जोर दे

अलग्योझा

भोला महतो ने पहली स्त्री के मर जाने बाद दूसरी सगाई की, तो उसके लड़के रग्घू के लिए बुरे दिन आ गए। रग्घू की उम्र उस समय केवल दस वर्ष की थी। चैने से गाँव में गुल्ली-डंडा खेलता फिरता था। माँ के आते ही चक्की में जुतना पड़ा। पन्ना रुपवती स्त्री थी और रुप और गर्व में चोली-दामन का नाता है। वह अपने हाथों से कोई काम न करती। गोबर रग्घू निकालता, बैलों को सानी रग्घू देता। रग्घू ही जूठे बरतन माँजता। भोला की आँखें कुछ ऐसी फिरीं कि उसे रग्घू में सब बुराइयाँ-ही-बुराइयाँ नजर आतीं। पन्ना की बातों को वह प्राचीन मर्यादानुसार आँखें बंद करके मान लेता था। रग्घू की शिकायतों की जरा परवाह न करता। नतीजा यह हुआ कि रग्घू ने शिकायत करना ही छोड़ दिया। किसके सामने रोए? बाप ही नहीं, सारा गाँव उसका दुश्मन था। बड़ा जिद्दी लड़का है, पन्ना को तो कुद समझता ही नहीं: बेचारी उसका दुलार करती है, खिलाती-पिलाती हैं यह उसी का फल है। दूसरी औरत होती, तो निबाह न होता। वह तो कहा, पन्ना इतनी सीधी-सादी है कि निबाह होता जाता है। सबल की शिकायतें सब सुनते हैं, निर्बल की फरियाद भी कोई नहीं सुनता! रग्घू का हृदय माँ की ओर से दिन-दिन फटता जाता था। यहां तक कि आठ साठ गुजर गए और एक दिन भोला के नाम भी मृत्यु का सन्देश आ पहुँचा।

पन्ना के चार बच्चे थे-तीन बेटे और एक बेटी। इतना बड़ खर्च और कमानेवाला कोई नहीं। रग्घू अब क्यों बात पूछने लगा? यह मानी हुई बात थी। अपनी स्त्री लाएगा और अलग रहेगा। स्त्री आकर और भी आग लगाएगी। पन्ना को चारों ओर अंधेरा ही दिखाई देता था: पर कुछ भी हो, वह रग्घू की आसरैत बनकर घर में रहेगी। जिस घर में उसने राज किया, उसमें अब लौंडी न बनेगी। जिस लौंडे को अपना गुलाम समझा, उसका मुंह न ताकेगी। वह सुन्दर थीं, अवस्था अभी कुछ ऐसी ज्यादा न थी। जवानी अपनी पूरी बहार पर थी। क्या वह कोई दूसरा घर नहीं कर सकती? यहीं न होगा, लोग हँसेंगे। बला से! उसकी बिरादरी में क्या

ऐसा होता नहीं? ब्राह्मण, ठाकुर थोड़ी ही थी कि नाक कट जायगी। यह तो उन्ही ऊँची जातों में होता है कि घर में चाहे जो कुछ करो, बाहर परदा ढका रहे। वह तो संसार को दिखाकर दूसरा घर कर सकती है, फिर वह रग्घू कि दबैल बनकर क्यों रहे?

भोला को मरे एक महीना गुजर चुका था। संध्या हो गई थी। पन्ना इसी चिन्ता में पड़ हुई थी कि सहसा उसे ख्याल आया, लड़के घर में नहीं हैं। यह बैलों के लौटने की बेला है, कहीं कोई लड़का उनके नीचे न आ जाए। अब द्वार पर कौन है, जो उनकी देखभाल करेगा? रग्घू को मेरे लड़के फूटी ऑंखों नहीं भाते। कभी हँसकर नहीं बोलता। घर से बाहर निकली, तो देखा, रग्घू सामने झोपड़े में बैठा ऊख की गँडेरिया बना रहा है, लड़के उसे घेरे खड़े हैं और छोटी लड़की उसकी गर्दन में हाथ डाले उसकी पीठ पर सवार होने की चेष्टा कर रही है। पन्ना को अपनी ऑंखों पर विश्वास न आया। आज तो यह नई बात है। शायद दुनिया को दिखाता है कि मैं अपने भाइयों को कितना चाहता हूँ और मन में छुरी रखी हुई है। घात मिले तो जान ही ले ले! काला साँप है, काला साँप! कठोर स्वर में बोली- तुम सबके सब वहाँ क्या करते हो? घर में आओ, साँझ की बेला है, गोरु आते होंगे।

रग्घू ने विनीत नेत्रों से देखकर कहा-मैं तो हूं ही काकी, डर किस बात का है?

बड़ा लड़का केदार बोला-काकी, रग्घू दादा ने हमारे लिए दो गाड़ियाँ बना दी हैं। यह देख, एक पर हम और खुन्नू बैठेंगे, दूसरी पर लछमन और झुनियाँ। दादा दोनों गाड़ियाँ खींचेंगे।

यह कहकर वह एक कोने से दो छोटी-छोटी गाड़ियाँ निकाल लाया। चार-चार पहिए लगे थे। बैठने के लिए तख्ते और रोक के लिए दोनों तरफ बाजू थे।

पन्ना ने आश्चर्य से पूछा-ये गाड़ियाँ किसने बनाई?

केदार ने चिढ़कर कहा-रग्घू दादा ने बनाई हैं, और किसने! भगत के घर से बसूला और रुखानी माँग लाए और चटपट बना दीं। खूब दौड़ती हैं काकी! बैठ खुन्नू मैं खींचूँ।

खुन्नू गाड़ी में बैठ गया। केदार खींचने लगा। चर-चर शोर हुआ मानो गाड़ी भी इस खेल में लड़कों के साथ शरीक है।

लछमन ने दूसरी गाड़ी में बैठकर कहा-दादा, खींचो।

रग्घू ने झुनियाँ को भी गाड़ी में बिठा दिया और गाड़ी खींचता हुआ दौड़ा। तीनों लड़के तालियाँ बजाने लगे। पन्ना चकित नेत्रों से यह दृश्य देख रही थी और सोच रही थी कि य वही रग्घू है या कोई और।

थोड़ी देर के बाद दोनों गाड़ियाँ लौटीं: लड़के घर में जाकर इस यानयात्रा के अनुभव बयान करने लगे। कितने खुश थे सब, मानों हवाई जहाज पर बैठ आये हों।

खुन्नू ने कहा-काकी सब पेड़ दौड़ रहे थे।

लछमन-और बछियाँ कैसी भागीं, सबकी सब दौड़ीं!

केदार-काकी, रग्घू दादा दोनों गाड़ियाँ एक साथ खींच ले जाते हैं।

झुनियाँ सबसे छोटी थी। उसकी व्यंजना-शक्ति उछल-कूद और नेत्रों तक परिमित थी-तालियाँ बजा-बजाकर नाच रही थी।

खुन्नू-अब हमारे घर गाय भी आ जाएगी काकी! रग्घू दादा ने गिरधारी से कहा है कि हमें एक गाय ला दो। गिरधारी बोला, कल लाऊँगा।

केदार-तीन सेर दूध देती है काकी! खूब दूध पीएँगे।

इतने में रग्घू भी अंदर आ गया। पन्ना ने अवहेलना की दृष्टि से देखकर पूछा-क्यों रग्घू तुमने गिरधारी से कोई गाय माँगी है?

रग्घू ने क्षमा-प्रार्थना के भाव से कहा-हाँ, माँगी तो है, कल लाएगा।

पन्ना-रुपये किसके घर से आएँगे, यह भी सोचा है?

रग्घू-सब सोच लिया है काकी! मेरी यह मुहर नहीं है। इसके पच्चीस रुपये मिल रहे हैं, पाँच रुपये बछिया के मुजा दे दूँगा! बस, गाय अपनी हो जाएगी।

पन्ना सन्नाटे में आ गई। अब उसका अविश्वासी मन भी रग्घू के प्रेम और सज्जनता को अस्वीकार न कर सका। बोली-मुहर को क्यों बेचे देते हो? गाय की अभी कौन जल्दी है? हाथ में पैसे हो जाएँ, तो ले लेना। सूना-सूना गला अच्छा न लगेगा। इतने दिनों गाय नहीं रही, तो क्या लड़के नहीं जिए?

रग्घू दार्शनिक भाव से बोला-बच्चों के खाने-पीने के यही दिन हैं काकी! इस उम्र में न खाया, तो फिर क्या खाएँगे। मुहर पहनना मुझे अच्छा भी नही मालूम होता। लोग समझते होंगे कि बाप तो गया। इसे मुहर पहनने की सूझी है।

भोला महतो गाय की चिंता ही में चल बसे। न रुपये आए और न गाय मिली। मजबूर थे। रग्घू ने यह समस्या कितनी सुगमता से हल कर दी। आज जीवन में पहली बार पन्ना को रग्घू पर विश्वास आया, बोली-जब गहना ही बेचना है, तो अपनी मुहर क्यों बेचोगे? मेरी हँसुली ले लेना।

रग्घू-नहीं काकी! वह तुम्हारे गले में बहुत अच्छी लगती है। मर्दो को क्या, मुहर पहनें या न पहनें।

पन्ना-चल, मैं बूढ़ी हुई। अब हँसुली पहनकर क्या करना है। तू अभी लड़का है, तेरा गला अच्छा न लगेगा?

रग्घू मुस्कराकर बोला-तुम अभी से कैसे बूढ़ी हो गई? गाँव में है कौन तुम्हारे बराबर?

रग्घू की सरल आलोचना ने पन्ना को लज्जित कर दिया। उसके रुखे-मुरछाए मुख पर प्रसन्नता की लाली दौड़ गई।

2

पाँच साल गुजर गए। रग्घू का-सा मेहनती, ईमानदार, बात का धनी दूसरा किसान गाँव में न था। पन्ना की इच्छा के बिना कोई काम न करता। उसकी उम्र अब 23 साल की हो गई थी। पन्ना बार-बार कहती, भइया, बहू को बिदा करा लाओ। कब तक नैह में पड़ी रहेगी? सब लोग मुझी को बदनाम करते हैं कि यही बहू को नहीं आने देती: मगर रग्घू टाल देता था। कहता कि अभी जल्दी क्या है? उसे अपनी स्त्री के रंग-ढंग का कुछ परिचय दूसरों से मिल चुका था। ऐसी औरत को घर में लाकर वह अपनी शाँति में बाधा नहीं डालना चाहता था।

आखिर एक दिन पन्ना ने जिद करके कहा-तो तुम न लाओगे?

'कह दिया कि अभी कोई जल्दी नहीं।'

'तुम्हारे लिए जल्दी न होगी, मेरे लिए तो जल्दी है। मैं आज आदमी भेजती हूँ।'

'पछताओगी काकी, उसका मिजाज अच्छा नहीं है।'

'तुम्हारी बला से। जब मैं उससे बोलूँगी ही नहीं, तो क्या हवा से लड़ेगी? रोटियाँ तो बना लेगी। मुझसे भीतर-बाहर का सारा काम नहीं होता, मैं आज बुलाए लेती हूँ।'

'बुलाना चाहती हो, बुला लो: मगर फिर यह न कहना कि यह मेहरिया को ठीक नहीं करता, उसका गुलाम हो गया।'

'न कहूँगी, जाकर दो साड़ियाँ और मिठाई ले आ।'

तीसरे दिन मुलिया मैके से आ गई। दरवाजे पर नगाड़े बजे, शहनाइयों की मधुर ध्वनि आकाश में गूँजने लगी। मुँह-दिखावे की रस्म अदा हुई। वह इस मरुभूमि में निर्मल जलधारा थी। गेहुआँ रंग था, बड़ी-बड़ी नोकीली पलकें, कपोलों पर हल्की सुर्खी, आँखों में प्रबल आकर्षण। रग्घू उसे देखते ही मंत्रमुग्ध हो गया।

प्रात:काल पानी का घड़ा लेकर चलती, तब उसका गेहुआँ रंग प्रभात की सुनहरी किरणों से कुन्दन हो जाता, मानों उषा अपनी सारी सुगंध, सारा विकास और उन्माद लिये मुस्कराती चली जाती हो।

3

मुलिया मैके से ही जली-भुनी आयी थी। मेरा शौहर छाती फाड़कर काम करे, और पन्ना रानी बनी बैठी रहे, उसके लड़े रईसजादे बने घूमें। मुलिया से यह बरदाश्त न होगा। वह किसी की गुलामी न करेगी। अपने लड़के तो अपने होते ही नहीं, भाई किसके होते हैं? जब तक पर नहीं निकते हैं, रग्घू को घेरे हुए हैं। ज्यों ही जरा सयाने हुए, पर झाड़कर निकल जाएँगे, बात भी न पूछेंगे।

एक दिन उसने रग्घू से कहा-तुम्हें इस तरह गुलामी करनी हो, तो करो, मुझसे न होगी।

रग्घू-तो फिर क्या करूँ, तू ही बता? लड़के तो अभी घर का काम करने लायक भी नहीं हैं।

मुलिया-लड़के रावत के हैं, कुछ तुम्हारे नहीं हैं। यही पन्ना है, जो तुम्हें दाने-दाने को तरसाती थी। सब सुन चुकी हूं। मैं लौंडी बनकर न रहूँगी। रुपये-पैसे का मुझे हिसाब नहीं मिलता। न जाने तुम क्या लाते हो और वह क्या करती है। तुम समझते हो, रुपये घर ही में तो हैं: मगर देख लेना, तुम्हें जो एक फूटी कौड़ी भी मिले।

रग्घू-रुपये-पैसे तेरे हाथ में देने लगूँ तो दुनिया कया कहेगी, यह तो सोच।

मुलिया-दुनिया जो चाहे, कहे। दुनिया के हाथों बिकी नहीं हूँ। देख लेना, भाँड लीपकर हाथ काला ही रहेगा। फिर तुम अपने भाइयों के लिए मरो, मै। क्यों मरुँ?

रग्घू-ने कुछ जवाब न दिया। उसे जिस बात का भय था, वह इतनी जल्द सिर आ पड़ी। अब अगर उसने बहुत तत्थो-थंभो किया, तो साल-छ:महीने और काम चलेगा। बस, आगे यह डोंगा चलता नजर नहीं आता। बकरे की माँ कब तक खैर मनाएगी?

एक दिन पन्ना ने महुए का सुखावन डाला। बरसात शुरु हो गई थी। बखार में अनाज गीला हो रहा था। मुलिया से बोली-बहू, जरा देखती रहना, मैं तालाब से नहा आऊँ?

मुलिया ने लापरवाही से कहा-मुझे नींद आ रही है, तुम बैठकर देखो। एक दिन न नहाओगी तो क्या होगा?

पन्ना ने साड़ी उतारकर रख दी, नहाने न गयी। मुलिया का वार खाली गया।

कई दिन के बाद एक शाम को पन्ना धान रोपकर लौटी, अँधेरा हो गया था। दिन-भर की भूखी थी। आशा थी, बहू ने रोटी बना रखी होगी: मगर देखा तो यहाँ चूल्हा ठंडा पड़ा हुआ था, और बच्चे मारे भूख के तड़प रहे थे। मुलिया से आहिस्ता से पूछा-आज अभी चूल्हा नहीं जला?

केदार ने कहा-आज दोपहर को भी चूल्हा नहीं जला काकी! भाभी ने कुछ बनाया ही नहीं।

पन्ना-तो तुम लोगों ने खाया क्या?

केदार-कुछ नहीं, रात की रोटियाँ थीं, खुन्नू और लछमन ने खायीं। मैंने सत्तू खा लिया।

पन्ना-और बहू?

केदार-वह पड़ी सो रह है, कुछ नहीं खाया।

पन्ना ने उसी वक्त चूल्हा जलाया और खाना बनाने बैठ गई। आटा गूँधती थी और रोती थी। क्या नसीब है? दिन-भर खेत में जली, घर आई तो चूल्हे के सामने जलना पड़ा।

केदार का चौदहवाँ साल था। भाभी के रंग-ढंग देखकर सारी स्थित समझ् रहा था। बोला-काकी, भाभी अब तुम्हारे साथ रहना नहीं चाहती।

पन्ना ने चौंककर पूछा-क्या कुछ कहती थी?

केदार-कहती कुछ नहीं थी: मगर है उसके मन में यही बात। फिर तुम क्यों नहीं उसे छोड़ देतीं? जैसे चाहे रहे, हमारा भी भगवान् है?

पन्ना ने दाँतों से जीभ दबाकर कहा-चुप, मरे सामने ऐसी बात भूलकर भी न कहना। रग्घू तुम्हारा भाई नहीं, तुम्हारा बाप है। मुलिया से कभी बोलोगे तो समझ लेना, जहर खा लूँगी।

4

दशहरे का त्यौहार आया। इस गाँव से कोस-भर एक पुरवे में मेला लगता था। गाँव के सब लड़के मेला देखने चले। पन्ना भी लड़कों के साथ चलने को तैयार हुई: मगर पैसे कहाँ से आएँ? कुंजी तो मुलिया के पास थी।

रग्घू ने आकर मुलिया से कहा-लड़के मेले जा रहे हैं, सबों को दो-दो पैसे दे दो।

मुलिया ने त्योरियाँ चढ़ाकर कहा-पैसे घर में नहीं हैं।

रग्घू-अभी तो तेलहन बिका था, क्या इतनी जल्दी रुपये उठ गए?

मुलिया-हाँ, उठ गए?

रग्घू-कहाँ उठ गए? जरा सुनूँ, आज त्योहार के दिन लड़के मेला देखने न जाएँगे?

मुलिया-अपनी काकी से कहो, पैसे निकालें, गाड़कर क्या करेंगी?

खूँटी पर कुंजी हाथ पकड़ लिया और बोली-कुंजी मुझे दे दो, नहीं तो ठीक न होगा। खाने-पहने को भी चाहिए, कागज-किताब को भी चाहिए, उस पर मेला देखने को भी चाहिए। हमारी कमाई इसलिए नहीं है कि दूसरे खाएँ और मूँछों पर ताव दें।

पन्ना ने रग्घू से कहा-भइया, पैसे क्या होंगे! लड़के मेला देखने न जाएँगे।
रग्घू ने झिड़ककर कहा-मेला देखने क्यों न जाएँगे? सारा गाँव जा रहा है। हमारे ही लड़के न जाएँगे?

यह कहकर रग्घू ने अपना हाथ छुड़ा लिया और पैसे निकालकर लड़कों को दे दिये: मगर कुंजी जब मुलिया को देने लगा, तब उसने उसे आंगन में फेंक दिया और मुँह लपेटकर लेट गई! लड़के मेला देखने न गए।

इसके बाद दो दिन गुजर गए। मुलिया ने कुछ नहीं खाया और पन्ना भी भूखी रही रग्घू कभी इसे मनाता, कभी उसे:पर न यह उठती, न वह। आखिर रग्घू ने हैरान होकर मुलिया से पूछा-कुछ मुँह से तो कह, चाहती क्या है?

मुलिया ने धरती को सम्बोधित करके कहा-मैं कुछ नहीं चाहती, मुझे मेरे घर पहुँचा दो।

रग्घू-अच्छा उठ, बना-खा। पहुँचा दूँगा।

मुलिया ने रग्घू की ओर ऑंखें उठाई। रग्घू उसकी सूरत देखकर डर गया। वह माधुर्य, वह मोहकता, वह लावण्य गायब हो गया था। दाँत निकल आए थे, ऑंखें फट गई थीं और नथुने फड़क रहे थे। अंगारे की-सी लाल ऑंखों से देखकर बोली-अच्छा, तो काकी ने यह सलाह दी है, यह मंत्र पढ़ाया है? तो यहाँ ऐसी कच्चे नहीं हूँ। तुम दोनों की छाती पर मूँग दलूँगी। हो किस फेर में?

रग्घू-अच्छा, तो मूँग ही दल लेना। कुछ खा-पी लेगी, तभी तो मूँग दल सकेगी।

मुलिया-अब तो तभी मुँह में पानी डालूँगी, जब घर अलग हो जाएगा। बहुत झेल चुकी, अब नहीं झेला जाता।

रग्घू सन्नाटे में आ गया। एक दिन तक उसके मुँह से आवाज ही न निकली। अलग होने की उसने स्वप्न में भी कल्पना न की थी। उसने गाँव में दो-चार परिवारों को अलग होते देखा था। वह खूब जानता था, रोटी के साथ लोगों के हृदय भी अलग हो जाते हैं। अपने हमेशा के लिए गैर हो जाते हैं। फिर उनमें वही नाता रह जाता है, जो गाँव के आदमियों में। रग्घू ने मन में ठान लिया था कि इस विपत्ति को घर में न आने दूँगा: मगर होनहार के सामने उसकी एक न चली। आह! मेरे मुँह में कालिख लगेगी, दुनिया यही कहेगी कि बाप के मर जाने पर दस साल भी एक में निबाह न हो सका। फिर किससे अलग हो जाऊँ? जिनको गोद में खिलाया, जिनको बच्चों की तरह पाला, जिनके लिए तरह-तरह के कष्ठ झेले, उन्हीं से अलग हो जाऊँ? अपने प्यारों को घर से निकाल बाहर करुँ? उसका गला फँस गया। काँपते हुए स्वर में बोला-तू क्या चाहती है कि मैं अपने भाइयों से अलग हो जाऊँ? भला सोच तो, कहीं मुँह दिखाने लायक रहूँगा?

मुलिया-तो मेरा इन लोगों के साथ निबाह न होगा।

रग्घू-तो तू अलग हो जा। मुझे अपने साथ क्यों घसीटती है?

मुलिया-तो मुझे क्या तुम्हारे घर में मिठाई मिलती है? मेरे लिए क्या संसार में जगह नहीं है?

रग्घू-तेरी जैसी मर्जी, जहाँ चाहे रह। मैं अपने घर वालों से अलग नहीं हो सकता। जिस दिन इस घर में दो चूल्हें जलेंगे, उस दिन मेरे कलेजे के दो टुकड़े हो जाएँगे। मैं यह चोट नहीं सह सकता। तुझे जो तकलीफ हो, वह मैं दूर कर सकता हूँ। माल-असबाब की मालकिन तू है ही: अनाज-पानी तेरे ही हाथ है, अब रह क्या गया है? अगर कुछ काम-धंधा करना नहीं चाहती, मत कर। भगवान ने मुझे समाई दी होती, तो मैं तुझे तिनका तक उठाने न देता। तेरे यह सुकुमार हाथ-पांव मेहनत-मजदूरी करने के लिए बनाए ही नहीं गए हैं: मगर क्या करूँ अपना कुछ बस ही नहीं है। फिर भी तेरा जी कोई काम करने को न चाहे, मत कर: मगर मुझसे अलग होने को न कह, तेरे पैरों पड़ता हूँ।

मुलिया ने सिर से अंचल खिसकाया और जरा समीप आकर बोली-मैं काम करने से नहीं डरती, न बैठे-बैठे खाना चाहती हूँ: मगर मुझ से किसी की धौंस नहीं सही जाती। तुम्हारी ही काकी घर का काम-काज करती हैं, तो अपने लिए करती हैं, अपने बाल-बच्चों के लिए करती हैं। मुझ पर कुछ एहसान नहीं करतीं, फिर मुझ पर धौंस क्यों जमाती हैं? उन्हें अपने बच्चे प्यारे होंगे, मुझे तो तुम्हारा आसरा है। मैं अपनी ऑंखों से यह नहीं देख सकती कि सारा घर तो चैन करे, जरा-जरा-से बच्चे तो दूध पीएँ, और जिसके बल-बूते पर गृहस्थी बनी हुई है, वह मट्ठे को तरसे। कोई उसका पूछनेवाला न हो। जरा अपना मुंह तो देखो, कैसी सूरत निकल आई है। औरों के तो चार बरस में अपने पट्ठे तैयार हो जाएँगे। तुम तो दस साल में खाट पर पड़ जाओगे। बैठ जाओ, खड़े क्यों हो? क्या मारकर भागोगे? मैं तुम्हें जबरदस्ती न बाँध लूँगी, या मालकिन का हुक्म नहीं है? सच कहूँ, तुम बड़े कठ-कलेजी हो। मैं जानती, ऐसे निर्मोहिए से पाला पड़ेगा, तो इस घर में भूल से न आती। आती भी तो मन न लगाती, मगर अब तो मन तुमसे

लग गया। घर भी जाऊँ, तो मन यहाँ ही रहेगा और तुम जो हो, मेरी बात नहीं पूछते।

मुलिया की ये रसीली बातें रग्घू पर कोई असर न डाल सकीं। वह उसी रुखाई से बोला-मुलिया, मुझसे यह न होगा। अलग होने का ध्यान करते ही मेरा मन न जाने कैसा हो जाता है। यह चोट मुझ से न सही जाएगी।

मुलिया ने परिहास करके कहा-तो चूड़ियाँ पहनकर अन्दर बैठो न! लाओ मैं मूँछें लगा लूं। मैं तो समझती थी कि तुममें भी कुछ कल-बल है। अब देखती हूँ, तो निरे मिट्टी के लौंदे हो।

पन्ना दालान में खड़ी दोनों की बातचीत सुन नहीं थी। अब उससे न रहा गया। सामने आकर रग्घू से बोली-जब वह अलग होने पर तुली हुई है, फिर तुम क्यों उसे जबरदस्ती मिलाए रखना चाहते हो? तुम उसे लेकर रहो, हमारे भगवान् ने निबाह दिया, तो अब क्या डर? अब तो भगवान् की दया से तीनों लड़के सयाने हो गए हैं, अब कोई चिन्ता नहीं।

रग्घू ने आँसू-भरी आँखों से पन्ना को देखकर कहा-काकी, तू भी पागल हो गई है क्या? जानती नहीं, दो रोटियाँ होते ही दो मन हो जाते हैं।

पन्ना-जब वह मानती ही नहीं, तब तुम क्या करोगे? भगवान् की मरजी होगी, तो कोई क्या करेगा? परालब्ध में जितने दिन एक साथ रहना लिखा था, उतने दिन रहे। अब उसकी यही मरजी है, तो यही सही। तुमने मेरे बाल-बच्चों के लिए जो कुछ किया, वह भूल नहीं सकती। तुमने इनके सिर हाथ न रखा होता, तो आज इनकी न जाने क्या गति होती: न जाने किसके द्वार पर ठोकरें खातें होते, न जाने कहाँ-कहाँ भीख माँगते फिरते। तुम्हारा जस मरते दम तक गाऊँगी। अगर मेरी खाल तुम्हारे जूते बनाने के काम आते, तो खुशी से दे दूँ। चाहे तुमसे अलग हो जाऊँ, पर जिस घड़ी पुकारोगे, कुत्ते की तरह दौड़ी आऊँगी। यह भूलकर भी न सोचना कि तुमसे अलग होकर मैं तुम्हारा बुरा चेतूँगी। जिस दिन तुम्हारा

अनभल मेरे मन में आएगा, उसी दिन विष खाकर मर जाऊँगी। भगवान् करे, तुम दूधों नहाओं, पूतों फलों! मरते दम तक यही असीस मेरे रोएँ-रोएँ से निकलती रहेगी और अगर लड़के भी अपने बाप के हैं। तो मरते दम तक तुम्हारा पोस मानेंगे।

यह कहकर पन्ना रोती हुई वहाँ से चली गई। रग्घू वहीं मूर्ति की तरह बैठा रहा। आसमान की ओर टकटकी लगी थी और आँखों से आँसू बह रहे थे।

5

पन्ना की बातें सुनकर मुलिया समझ गई कि अपने पौबारह हैं। चटपट उठी, घर में झाड़ू लगाई, चूल्हा जलाया और कुएँ से पानी लाने चली। उसकी टेक पूरी हो गई थी।

गाँव में स्त्रियों के दो दल होते हैं-एक बहुओं का, दूसरा सासों का! बहुएँ सलाह और सहानुभूति के लिए अपने दल में जाती हैं, सासें अपने में। दोनों की पंचायतें अलग होती हैं। मुलिया को कुएँ पर दो-तीन बहुएँ मिल गई। एक से पूछा-आज तो तुम्हारी बुढ़िया बहुत रो-धो रही थी।

मुलिया ने विजय के गर्व से कहा-इतने दिनों से घर की मालकिन बनी हुई है, राज-पाट छोड़ते किसे अच्छा लगता है? बहन, मैं उनका बुरा नहीं चाहती: लेकिन एक आदमी की कमाई में कहाँ तक बरकत होगी। मेरे भी तो यही खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने के दिन हैं। अभी उनके पीछे मरो, फिर बाल-बच्चे हो जाएँ, उनके पीछे मरो। सारी जिन्दगी रोते ही कट जाएगी।

एक बहू-बुढ़िया यही चाहती है कि यह सब जन्म-भर लौंडी बनी रहें। मोटा-झोटा खाएं और पड़ी रहें।

दूसरी बहू-किस भरोसे पर कोई मरे-अपने लड़के तो बात नहीं पूछें पराए लड़कों का क्या भरोसा? कल इनके हाथ-पैर हो जायेंगे, फिर कौन पूछता है! अपनी-अपनी मेहरियों का मुंह देखेंगे। पहले ही से फटकार देना अच्छा है, फिर तो कोई कलक न होगा।

मुलिया पानी लेकर गयी, खाना बनाया और रग्घू से बोली-जाओं, नहा आओ, रोटी तैयार है।

रग्घू ने मानों सुना ही नहीं। सिर पर हाथ रखकर द्वार की तरफ ताकता रहा।

मुलिया-क्या कहती हूँ, कुछ सुनाई देता है, रोटी तैयार है, जाओं नहा आओ।

रग्घू-सुन तो रहा हूँ, क्या बहरा हूँ? रोटी तैयार है तो जाकर खा ले। मुझे भूख नहीं है।

मुलिया ने फिर नहीं कहा। जाकर चूल्हा बुझा दिया, रोटियाँ उठाकर छींके पर रख दीं और मुँह ढाँककर लेट रही।

जरा देर में पन्ना आकर बोली-खाना तैयार है, नहा-धोकर खा लो! बहू भी भूखी होगी।

रग्घू ने झुँझलाकर कहा-काकी तू घर में रहने देगी कि मुँह में कालिख लगाकर कहीं निकल जाऊँ? खाना तो खाना ही है, आज न खाऊँगा, कल खाऊँगा, लेकिन अभी मुझसे न खाया जाएगा। केदार क्या अभी मदरसे से नहीं आया?

पन्ना-अभी तो नीं आया, आता ही होगा।

पन्ना समझ गई कि जब तक वह खाना बनाकर लड़कों को न खिलाएगी और खुद न खाएगी रग्घू न खाएगा। इतना ही नहीं, उसे रग्घू से लड़ाई करनी पड़ेगी, उसे जली-कटी सुनानी पड़ेगी। उसे यह दिखाना पड़ेगा कि मैं ही उससे अलग

होना चाहती हूँ नहीं तो वह इसी चिन्ता में घुल-घुलकर प्राण दे देगा। यह सोचकर उसने अलग चूल्हा जलाया और खाना बनाने लगी। इतने में केदार और खुन्नू मदरसे से आ गए। पन्ना ने कहा-आओ बेटा, खा लो, रोटी तैयार है।

केदार ने पूछा-भइया को भी बुला लूँ न?

पन्ना-तुम आकर खा लो। उसकी रोटी बहू ने अलग बनाई है।
खुन्नू-जाकर भइया से पूछ न आऊँ?

पन्ना-जब उनका जी चाहेगा, खाएँगे। तू बैठकर खा: तुझे इन बातों से क्या मतलब? जिसका जी चाहेगा खाएगा, जिसका जी न चाहेगा, न खाएगा। जब वह और उसकी बीवी अलग रहने पर तुले हैं, तो कौन मनाए?

केदार-तो क्यों अम्माजी, क्या हम अलग घर में रहेंगे?

पन्ना-उनका जी चाहे, एक घर में रहें, जी चाहे ऑगन में दीवार डाल लें।

खुन्नू ने दरवाजे पर आकर झाँका, सामने फूस की झोंपड़ी थी, वहीं खाट पर पड़ा रग्घू नारियल पी रहा था।

खुन्नू- भइया तो अभी नारियल लिये बैठे हैं।

पन्ना-जब जी चाहेगा, खाएँगे।

केदार-भइया ने भाभी को डाँटा नहीं?

मुलिया अपनी कोठरी में पड़ी सुन रही थी। बाहर आकर बोली-भइया ने तो नहीं डाँटा अब तुम आकर डाँटों।

केदार के चेहरे पर रंग उड़ गया। फिर जबान न खोली। तीनों लड़कों ने खाना खाया और बाहर निकले। लू चलने लगी थी। आम के बाग में गाँव के लड़के-

लड़कियाँ हवा से गिरे हुए आम चुन रहे थे। केदार ने कहा-आज हम भी आम चुनने चलें, खूब आम गिर रहे हैं।

खुन्नू-दादा जो बैठे हैं?

लछमन-मैं न जाऊँगा, दादा घुड़केंगे।

केदार-वह तो अब अलग हो गए।

लक्षमन-तो अब हमको कोई मारेगा, तब भी दादा न बोलेंगे?

केदार-वाह, तब क्यों न बोलेंगे?

रग्घू ने तीनों लड़कों को दरवाजे पर खड़े देखा: पर कुछ बोला नहीं। पहले तो वह घर के बाहर निकलते ही उन्हें डाँट बैठता था: पर आज वह मूर्ति के समान निश्चल बैठा रहा। अब लड़कों को कुछ साहस हुआ। कुछ दूर और आगे बढ़े। रग्घू अब भी न बोला, कैसे बोले? वह सोच रहा था, काकी ने लड़कों को खिला-पिला दिया, मुझसे पूछा तक नहीं। क्या उसकी ऑखों पर भी परदा पड़ गया है: अगर मैंने लड़कों को पुकारा और वह न आयें तो? मैं उनकों मार-पीट तो न सकूँगा। लू में सब मारे-मारे फिरेंगे। कहीं बीमार न पड़ जाएँ। उसका दिल मसोसकर रह जाता था, लेकिन मुँह से कुछ कह न सकता था। लड़कों ने देखा कि यह बिलकुल नहीं बोलते, तो निर्भय होकर चल पड़े।

सहसा मुलिया ने आकर कहा-अब तो उठोगे कि अब भी नहीं? जिनके नाम पर फाका कर रहे हो, उन्होंने मजे से लड़कों को खिलाया और आप खाया, अब आराम से सो रही है। 'मोर पिया बात न पूछें, मोर सुहागिन नॉव।' एक बार भी तो मुँह से न फूटा कि चलो भइया, खा लो।

रग्घू को इस समय मर्मान्तक पीड़ा हो रह थी। मुलिया के इन कठोर शब्दों ने घाव पर नमक छिड़क दिया। दु:खित नेत्रों से देखकर बोला-तेरी जो मर्जी थी, वही तो हुआ। अब जा, ढोल बजा!

मुलिया-नहीं, तुम्हारे लिए थाली परोसे बैठी है।

रग्घू-मुझे चिढ़ा मत। तेरे पीछे मैं भी बदनाम हो रहा हूँ। जब तू किसी की होकर नहीं रहना चाहती, तो दूसरे को क्या गरज है, जो मेरी खुशामद करे? जाकर काकी से पूछ, लड़के आम चुनने गए हैं, उन्हें पकड़ लाऊँ?

मुलिया अँगूठा दिखाकर बोली-यह जाता है। तुम्हें सौ बार गरज हो, जाकर पूछो।

इतने में पन्ना भी भीतर से निकल आयी। रग्घू ने पूछा-लड़के बगीचे में चले गए काकी, लू चल रही है।

पन्ना-अब उनका कौन पुछत्तर है? बगीचे में जाएँ, पेड़ पर चढ़ें, पानी में डूबें। मैं अकेली क्या-क्या करुँ?

रग्घू-जाकर पकड़ लाऊँ?

पन्ना-जब तुम्हें अपने मन से नहीं जाना है, तो फिर मैं जाने को क्यों कहूँ? तुम्हें रोकना होता , तो रोक न देते? तुम्हारे सामने ही तो गए होंगे?

पन्ना की बात पूरी भी न हुई थी कि रग्घू ने नारियल कोने में रख दिया और बाग की तरफ चला।

6

रग्घू लड़कों को लेकर बाग से लौटा, तो देखा मुलिया अभी तक झोंपड़े में खड़ी है। बोला-तू जाकर खा क्यों नहीं लेती? मुझे तो इस बेला भूख नहीं है।

मुलिया ऐंठकर बोली-हाँ, भूख क्यों लगेगी! भाइयों ने खाया, वह तुम्हारे पेट में पहुँच ही गया होगा।

रग्घू ने दाँत पीसकर कहा-मुझे जला मत मुलिया, नहीं अच्छा न होगा। खाना कहीं भागा नहीं जाता। एक बेला न खाऊँगा, तो मर न जाउँगा! क्या तू समझती हैं, घर में आज कोई बात हो गई हैं? तूने घर में चूल्हा नहीं जलाया, मेरे कलेजे में आग लगाई है। मुझे घमंड था कि और चाहे कुछ हो जाए, पर मेरे घर में फूट का रोग न आने पाएगा, पर तूने घमंड चूर कर दिया। परालब्ध की बात है।

मुलिया तिनककर बोली-सारा मोह-छोह तुम्हीं को है कि और किसी को है? मैं तो किसी को तुम्हारी तरह बिसूरते नहीं देखती।

रग्घू ने ठंडी साँस खींचकर कहा-मुलिया, घाव पर नोन न छिड़क। तेरे ही कारन मेरी पीठ में धूल लग रही है। मुझे इस गृहस्थी का मोह न होगा, तो किसे होगा? मैंने ही तो इसे मर-मर जोड़ा। जिनको गोद में खेलाया, वहीं अब मेरे पट्टीदार होंगे। जिन बच्चों को मैं डाँटता था, उन्हें आज कड़ी आँखों से भी नहीं देख सकता। मैं उनके भले के लिए भी कोई बात करुँ, तो दुनिया यही कहेगी कि यह अपने भाइयों को लूटे लेता है। जा मुझे छोड़ दे, अभी मुझसे कुछ न खाया जाएगा।

मुलिया-मैं कसम रखा दूँगी, नहीं चुपके से चले चलो।

रग्घू-देख, अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। अपना हठ छोड़ दे।

मुलिया-हमारा ही लहू पिए, जो खाने न उठे।

रग्घू ने कानों पर हाथ रखकर कहा-यह तूने क्या किया मुलिया? मैं तो उठ ही रहा था। चल खा लूँ। नहाने-धोने कौन जाए, लेकिन इतनी कहे देता हूँ कि चाहे

चार की जगह छः रोटियाँ खा जाऊँ, चाहे तू मुझे घी के मटके ही में डुबा दे: पर यह दाग मेरे दिल से न मिटेगा।

मुलिया-दाग-साग सब मिट जाएगा। पहले सबको ऐसा ही लगता है। देखते नहीं हो, उधर कैसी चैन की वंशी बज रही है, वह तो मना ही रही थीं कि किसी तरह यह सब अलग हो जाएँ। अब वह पहले की-सी चाँदी तो नहीं है कि जो कुछ घर में आवे, सब गायब! अब क्यों हमारे साथ रहने लगीं?

रग्घू ने आहत स्वर में कहा-इसी बात का तो मुझे गम है। काकी ने मुझे ऐसी आशा न थी।

रग्घू खाने बैठा, तो कौर विष के घूँट-सा लगता था। जान पड़ता था, रोटियाँ भूसी की हैं। दाल पानी-सी लगती। पानी कंठ के नीचे न उतरता था, दूध की तरफ देखा तक नहीं। दो-चार ग्रास खाकर उठ आया, जैसे किसी प्रियजन के श्राद्ध का भोजन हो।

रात का भोजन भी उसने इसी तरह किया। भोजन क्या किया, कसम पूरी की। रात-भर उसका चित्त उद्विग्न रहा। एक अज्ञात शंका उसके मन पर छाई हुई थी, जेसे भोला महतो द्वार पर बैठा रो रहा हो। वह कई बार चौंककर उठा। ऐसा जान पड़ा, भोला उसकी ओर तिरस्कार की आँखों से देख रहा है।

वह दोनों जून भोजन करता था: पर जैसे शत्रु के घर। भोला की शोकमग्न मूर्ति आँखों से न उतरती थी। रात को उसे नींद न आती। वह गाँव में निकलता, तो इस तरह मुँह चुराए, सिर झुकाए मानो गो-हत्या की हो।

7

पाँच साल गुजर गए। रग्घू अब दो लड़कों का बाप था। आँगन में दीवार खिंच गई थी, खेतों में मेड़ें डाल दी गई थीं और बैल-बछिए बाँध लिये गए थे। केदार

की उम्र अब उन्नीस की हो गई थी। उसने पढ़ना छोड़ दिया था और खेती का काम करता था। खुन्नू गाय चराता था। केवल लछमन अब तक मदरसे जाता था। पन्ना और मुलिया दोनों एक-दूसरे की सूरत से जलती थीं। मुलिया के दोनों लड़के बहुधा पन्ना ही के पास रहते। वहीं उन्हें उबटन मलती, वही काजल लगाती, वही गोद में लिये फिरती: मगर मुलिया के मुंह से अनुग्रह का एक शब्द भी न निकलता। न पन्ना ही इसकी इच्छुक थी। वह जो कुछ करती निर्व्याज भाव से करती थी। उसके दो-दो लड़के अब कमाऊ हो गए थे। लड़की खाना पका लेती थी। वह खुद ऊपर का काम-काज कर लेती। इसके विरुद्ध रग्घू अपने घर का अकेला था, वह भी दुर्बल, अशक्त और जवानी में बूढ़ा। अभी आयु तीस वर्ष से अधिक न थी, लेकिन बाल खिचड़ी हो गए थे। कमर भी झुक चली थी। खाँसी ने जीर्ण कर रखा था। देखकर दया आती थी। और खेती पसीने की वस्तु है। खेती की जैसी सेवा होनी चाहिए, वह उससे न हो पाती। फिर अच्छी फसल कहाँ से आती? कुछ ऋण भी हो गया था। वह चिंता और भी मारे डालती थी। चाहिए तो यह था कि अब उसे कुछ आराम मिलता। इतने दिनों के निरन्तर परिश्रम के बाद सिर का बोझ कुछ हल्का होता, लेकिन मुलिया की स्वार्थपरता और अदूरदर्शिता ने लहराती हुई खेती उजाड़ दी। अगर सब एक साथ रहते, तो वह अब तक पेन्शन पा जाता, मजे में द्वार पर बैठा हुआ नारियल पीता। भाई काम करते, वह सलाह देता। महतो बना फिरता। कहीं किसी के झगड़े चुकाता, कहीं साधु-संतों की सेवा करता: वह अवसर हाथ से निकल गया। अब तो चिंता-भार दिन-दिन बढ़ता जाता था।

आखिर उसे धीमा-धीमा ज्वर रहने लगा। हृदय-शूल, चिंता, कड़ा परिश्रम और अभाव का यही पुरस्कार है। पहले कुछ परवाह न की। समझा आप ही आप अच्छा हो जाएगा: मगर कमजोरी बढ़ने लगी, तो दवा की फिक्र हुई। जिसने जो बता दिया, खा लिया, डाक्टरों और वैद्यों के पास जाने की सामर्थ्य कहाँ? और सामर्थ्य भी होती, तो रुपये खर्च कर देने के सिवा और नतीजा ही क्या था? जीर्ण ज्वर की औषधि आराम और पुष्टिकारक भोजन है। न वह बसंत-मालती का सेवन कर सकता था और न आराम से बैठकर बलबर्धक भोजन कर सकता था। कमजोरी बढ़ती ही गई।

पन्ना को अवसर मिलता, तो वह आकर उसे तसल्ली देती: लेकिन उसके लड़के अब रग्घू से बात भी न करते थे। दवा-दारु तो क्या करतें, उसका और मजाक उड़ाते। भैया समझते थे कि हम लोगों से अलग होकर सोने और ईट रख लेंगे। भाभी भी समझती थीं, सोने से लद जाऊँगी। अब देखें कौन पूछता है? सिसक-सिसककर न मरें तो कह देना। बहुत 'हाय! हाय!' भी अच्छी नहीं होती। आदमी उतना काम करे, जितना हो सके। यह नहीं कि रुपये के लिए जान दे दे।

पन्ना कहती-रग्घू बेचारे का कौन दोष है?

केदार कहता-चल, मैं खूब समझता हूँ। भैया की जगह मैं होता, तो डंडे से बात करता। मजाक थी कि औरत यों जिद करती। यह सब भैया की चाल थी। सब सधी-बधी बात थी।

आखिर एक दिन रग्घू का टिमटिमाता हुआ जीवन-दीपक बुझ गया। मौत ने सारी चिन्ताओं का अंत कर दिया।

अंत समय उसने केदार को बुलाया था: पर केदार को ऊख में पानी देना था। डरा, कहीं दवा के लिए न भेज दें। बहाना बना दिया।

8

मुलिया का जीवन अंधकारमय हो गया। जिस भूमि पर उसने मनसूबों की दीवार खड़ी की थी, वह नीचे से खिसक गई थी। जिस खूँटें के बल पर वह उछल रही थी, वह उखड़ गया था। गॉववालों ने कहना शुरु किया, ईश्वर ने कैसा तत्काल दंड दिया। बेचारी मारे लाज के अपने दोनों बच्चों को लिये रोया करती। गॉव में किसी को मुँह दिखाने का साहस न होता। प्रत्येक प्राणी उससे यह कहता हुआ मालूम होता था-'मारे घमण्ड के धरती पर पॉव न रखती थी: आखिर सजा मिल गई कि नहीं !' अब इस घर में कैसे निर्वाह होगा? वह किसके सहारे रहेगी? किसके बल पर खेती होगी? बेचारा रग्घू बीमार था। दुर्बल था, पर जब तक जीता

रहा, अपना काम करता रहा। मारे कमजोरी के कभी-कभी सिर पकड़कर बैठ जाता और जरा दम लेकर फिर हाथ चलाने लगता था। सारी खेती तहस-नहस हो रही थी, उसे कौन संभालेगा? अनाज की डॉठें खलिहान में पड़ी थीं, ऊख अलग सूख रही थी। वह अकेली क्या-क्या करेगी? फिर सिंचाई अकेले आदमी का तो काम नहीं। तीन-तीन मजदूरों को कहाँ से लाए! गाँव में मजदूर थे ही कितने। आदमियों के लिए खींचा-तानी हो रही थी। क्या करें, क्या न करे।

इस तरह तेरह दिन बीत गए। क्रिया-कर्म से छुट्टी मिली। दूसरे ही दिन सवेरे मुलिया ने दोनों बालकों को गोद में उठाया और अनाज माँड़ने चली। खलिहान में पहुंचकर उसने एक को तो पेड़ के नीचे घास के नर्म बिस्तर पर सुला दिया और दूसरे को वहीं बैठाकर अनाज माँड़ने लगी। बैलों को हाँकती थी और रोती थी। क्या इसीलिए भगवान् ने उसको जन्म दिया था? देखते-देखते क्या वे क्या हो गया? इन्हीं दिनों पिछले साल भी अनाज माँड़ा गया था। वह रग्घू के लिए लोटे में शरबत और मटर की घुँघी लेकर आई थी। आज कोई उसके आगे है, न पीछे: लेकिन किसी की लौंडी तो नहीं हूँ! उसे अलग होने का अब भी पछतावा न था।

एकाएक छोटे बच्चे का रोना सुनकर उसने उधर ताका, तो बड़ा लड़का उसे चुमकारकर कह रहा था-बैया तुप रहो, तुप रहो। धीरे-धीरे उसके मुंह पर हाथ फेरता था और चुप कराने के लिए विकल था। जब बच्चा किसी तरह न चुप न हुआ तो वह खुद उसके पास लेट गया और उसे छाती से लगाकर प्यार करने लगा: मगर जब यह प्रयत्न भी सफल न हुआ, तो वह रोने लगा।

उसी समय पन्ना दौड़ी आयी और छोटे बालक को गोद में उठाकर प्यार करती हुई बोली-लड़कों को मुझे क्यों न दे आयी बहू? हाय! हाय! बेचारा धरती पर पड़ा लोट रहा है। जब मैं मर जाऊँ तो जो चाहे करना, अभी तो जीती हूँ, अलग हो जाने से बच्चे तो नहीं अलग हो गए।

मुलिया ने कहा-तुम्हें भी तो छुट्टी नहीं थी अम्माँ, क्या करती?

पन्ना-तो तुझे यहाँ आने की ऐसी क्या जल्दी थी? डाँठ माँड़ न जाती। तीन-तीन लड़के तो हैं, और किसी दिन काम आएँगे? केदार तो कल ही माँड़ने को कह रहा था: पर मैंने कहा, पहले ऊख में पानी दे लो, फिर आज माँड़ना, मँड़ाई तो दस दिन बाद भ हो सकती है, ऊख की सिंचाई न हुई तो सूख जाएगी। कल से पानी चढ़ा हुआ है, परसों तक खेत पुर जाएगा। तब मँड़ाई हो जाएगी। तुझे विश्वास न आएगा, जब से भैया मरे हैं, केदार को बड़ी चिंता हो गई है। दिन में सौ-सौ बार पूछता है, भाभी बहुत रोती तो नहीं हैं? देख, लड़के भूखे तो नहीं हैं। कोई लड़का रोता है, तो दौड़ा आता है, देख अम्माँ, क्या हुआ, बच्चा क्यों रोता है? कल रोकर बोला-अम्माँ, मैं जानता कि भैया इतनी जल्दी चले जाएँगे, तो उनकी कुछ सेवा कर लेता। कहाँ जगाए-जगाए उठता था, अब देखती हो, पहर रात से उठकर काम में लग जाता है। खुन्नू कल जरा-सा बोला, पहले हम अपनी ऊख में पानी दे लेंगे, तब भैया की ऊख में देंगे। इस पर केदार ने ऐसा डाँटा कि खुन्नू के मुँह से फिर बात न निकली। बोला, कैसी तुम्हारी और कैसी हमारी ऊख? भैया ने जिला न लिया होता, तो आज या तो मर गए होते या कहीं भीख माँगते होते। आज तुम बड़े ऊखवाले बने हो! यह उन्हीं का पुन-परताप है कि आज भले आदमी बने बैठे हो। परसों रोटी खाने को बुलाने गई, तो मँड़ैया में बैठा रो रहा था। पूछा, क्यों रोता है? तो बोला, अम्माँ, भैया इसी 'अलग्योझ' के दुख से मर गए, नहीं अभी उनकी उमिर ही क्या थी! यह उस वक्त न सूझा, नहीं उनसे क्यों बिगाड़ करते?

यह कहकर पन्ना ने मुलिया की ओर संकेतपूर्ण दृष्टि से देखकर कहा-तुम्हें वह अलग न रहने देगा बहू, कहता है, भैया हमारे लिए मर गए तो हम भी उनके बाल-बच्चों के लिए मर जाएँगे।

मुलिया की आंखों से आँसू जारी थे। पन्ना की बातों में आज सच्ची वेदना, सच्ची सान्त्वना, सच्ची चिन्ता भरी हुई थी। मुलिया का मन कभी उसकी ओर इतना आकर्षित न हुआ था। जिनसे उसे व्यंग्य और प्रतिकार का भय था, वे इतने दयालु, इतने शुभेच्छु हो गए थे।

आज पहली बार उसे अपनी स्वार्थपरता पर लज्जा आई। पहली बार आत्मा ने अलग्योझे पर धिक्कारा।

9

इस घटना को हुए पाँच साल गुजर गए। पन्ना आज बूढ़ी हो गई है। केदार घर का मालिक है। मुलिया घर की मालकिन है। खुन्नू और लछमन के विवाह हो चुके हैं: मगर केदार अभी तक क्वाँरा है। कहता हैं- मैं विवाह न करुँगा। कई जगहों से बातचीत हुई, कई सगाइयाँ आयीं: पर उसे हामी न भरी। पन्ना ने कम्पे लगाए, जाल फैलाए, पर व न फँसा। कहता-औरतों से कौन सुख? मेहरिया घर में आयी और आदमी का मिजाज बदला। फिर जो कुछ है, वह मेहरिया है। माँ-बाप, भाई-बन्धु सब पराए हैं। जब भैया जैसे आदमी का मिजाज बदल गया, तो फिर दूसरों की क्या गिनती? दो लड़के भगवान् के दिये हैं और क्या चाहिए। बिना ब्याह किए दो बेटे मिल गए, इससे बढ़कर और क्या होगा? जिसे अपना समझो, व अपना है: जिसे गैर समझो, वह गैर है।

एक दिन पन्ना ने कहा-तेरा वंश कैसे चलेगा?

केदार-मेरा वंश तो चल रहा है। दोनों लड़कों को अपना ही समझता हूं।

पन्ना-समझने ही पर है, तो तू मुलिया को भी अपनी मेहरिया समझता होगा?

केदार ने झेंपते हुए कहा-तुम तो गाली देती हो अम्माँ!

पन्ना-गाली कैसी, तेरी भाभी ही तो है!

केदार-मेरे जेसे लट्ठ-गँवार को वह क्यों पूछने लगी!

पन्ना-तू करने को कह, तो मैं उससे पूछूँ?

केदार-नहीं मेरी अम्माँ, कहीं रोने-गाने न लगे।

पन्ना-तेरा मन हो, तो मैं बातों-बातों में उसके मन की थाह लूँ?

केदार-मैं नहीं जानता, जो चाहे कर।

पन्ना केदार के मन की बात समझ गई। लड़के का दिल मुलिया पर आया हुआ है: पर संकोच और भय के मारे कुछ नहीं कहता।

उसी दिन उसने मुलिया से कहा-क्या करुँ बहू, मन की लालसा मन में ही रह जाती है। केदार का घर भी बस जाता, तो मैं निश्चिन्त हो जाती।

मुलिया-वह तो करने को ही नहीं कहते।

पन्ना-कहता है, ऐसी औरत मिले, जो घर में मेल से रहे, तो कर लूँ।

मुलिया-ऐसी औरत कहाँ मिलेगी? कहीं ढूँढ़ो।

पन्ना-मैंने तो ढूँढ़ लिया है।

मुलिया-सच, किस गाँव की है?

पन्ना-अभी न बताऊँगी, मुदा यह जानती हूँ कि उससे केदार की सगाई हो जाए, तो घर बन जाए और केदार की जिन्दगी भी सुफल हो जाए। न जाने लड़की मानेगी कि नहीं।

मुलिया-मानेगी क्यों नहीं अम्माँ, ऐसा सुन्दर कमाऊ, सुशील वर और कहाँ मिला जाता है? उस जनम का कोई साधु-महात्मा है, नहीं तो लड़ाई-झगड़े के डर से कौन बिन ब्याहा रहता है। कहाँ रहती है, मैं जाकर उसे मना लाऊँगी।

पन्ना-तू चाहे, तो उसे मना ले। तेरे ही ऊपर है।

मुलिया-मैं आज ही चली जाऊँगी, अम्मा, उसके पैरों पड़कर मना लाऊँगी।

पन्ना-बता दूँ, वह तू ही है!

मुलिया लजाकर बोली-तुम तो अम्माँजी, गाली देती हो।

पन्ना-गाली कैसी, देवर ही तो है!

मुलिया-मुझ जैसी बुढ़िया को वह क्यों पूछेंगे?

पन्ना-वह तुझी पर दाँत लगाए बैठा है। तेरे सिवा कोई और उसे भाती ही नहीं। डर के मारे कहता नहीं: पर उसके मन की बात मैं जानती हूँ।

वैधव्य के शौक से मुरझाया हुआ मुलिया का पीत वदन कमल की भाँति अरुण हो उठा। दस वर्षो में जो कुछ खोया था, वह इसी एक क्षण में मानों ब्याज के साथ मिल गया। वही लवण्य, वही विकास, वहीं आकर्षण, वहीं लोच।

***

ईदगाह

रमजान के पूरे तीस रोजों के बाद ईद आयी है। कितना मनोहर, कितना सुहावना प्रभाव है। वृक्षों पर अजीब हरियाली है, खेतों में कुछ अजीब रौनक है, आसमान पर कुछ अजीब लालिमा है। आज का सूर्य देखो, कितना प्यारा, कितना शीतल है, यानी संसार को ईद की बधाई दे रहा है। गॉव में कितनी हलचल है। ईदगाह जाने की तैयारियॉ हो रही हैं। किसी के कुरते में बटन नहीं है, पड़ोस के घर में सुई-धागा लेने दौड़ा जा रहा है। किसी के जूते कड़े हो गए हैं, उनमें तेल डालने के लिए तेली के घर पर भागा जाता है। जल्दी-जल्दी बैलों को सानी-पानी दे दें। ईदगाह से लौटते-लौटते दोपहर हो जाएगी। तीन कोस का पेदल रास्ता, फिर सैकड़ों आदमियों से मिलना-भेंटना, दोपहर के पहले लोटना असम्भव है। लड़के सबसे ज्यादा प्रसन्न हैं। किसी ने एक रोजा रखा है, वह भी दोपहर तक, किसी ने वह भी नहीं, लेकिन ईदगाह जाने की खुशी उनके हिस्से की चीज है। रोजे बड़े-बूढ़ो के लिए होंगे। इनके लिए तो ईद है। रोज ईद का नाम रटते थे, आज वह आ गई। अब जल्दी पड़ी है कि लोग ईदगाह क्यों नहीं चलते। इन्हें गृहस्थी चिंताओं से क्या प्रयोजन! सेवैयों के लिए दूध ओर शक्कर घर में है या नहीं, इनकी बला से, ये तो सेवेयां खाएँगे। वह क्या जानें कि अब्बाजान क्यों बदहवास चौधरी कायमअली के घर दौड़े जा रहे हैं। उन्हें क्या खबर कि चौधरी ऑखें बदल लें, तो यह सारी ईद मुहर्रम हो जाए। उनकी अपनी जेबों में तो कुबेर का धन भरा हुआ है। बार-बार जेब से अपना खजाना निकालकर गिनते हैं और खुश होकर फिर रख लेते हैं। महमूद गिनता है, एक-दो, दस,-बारह, उसके पास बारह पैसे हैं। मोहनसिन के पास एक, दो, तीन, आठ, नौ, पंद्रह पैसे हैं। इन्हीं अनगिनती पैसों में अनगिनती चीजें लाएँगें- खिलौने, मिठाइयां, बिगुल, गेंद और जाने क्या-क्या।

और सबसे ज्यादा प्रसन्न है हामिद। वह चार-पॉच साल का गरीब सूरत, दुबला-पतला लड़का, जिसका बाप गत वर्ष हैजे की भेंट हो गया और मॉ न जाने क्यों पीली होती-होती एक दिन मर गई। किसी को पता क्या बीमारी है। कहती तो

कौन सुनने वाला था? दिल पर जो कुछ बीतती थी, वह दिल में ही सहती थी ओर जब न सहा गया,. तो संसार से विदा हो गई। अब हामिद अपनी बूढ़ी दादी अमीना की गोद में सोता है और उतना ही प्रसन्न है। उसके अब्बाजान रूपये कमाने गए हैं। बहुत-सी थैलियाँ लेकर आएँगे। अम्मीजान अल्लहा मियाँ के घर से उसके लिए बड़ी अच्छी-अच्छी चीजें लाने गई हैं, इसलिए हामिद प्रसन्न है। आशा तो बड़ी चीज है, और फिर बच्चों की आशा! उनकी कल्पना तो राई का पर्वत बना लेती हे। हामिद के पॉव में जूते नहीं हैं, सिर परएक पुरानी-धुरानी टोपी है, जिसका गोटा काला पड़ गया है, फिर भी वह प्रसन्न है। जब उसके अब्बाजान थैलियाँ और अम्मीजान नियमतें लेकर आएँगी, तो वह दिल से अरमान निकाल लेगा। तब देखेगा, मोहसिन, नूरे और सम्मी कहाँ से उतने पैसे निकालेंगे।

अभागिन अमीना अपनी कोठरी में बैठी रो रही है। आज ईद का दिन, उसके घर में दाना नहीं! आज आबिद होता, तो क्या इसी तरह ईद आती ओर चली जाती! इस अन्धकार और निराशा में वह डूबी जा रही है। किसने बुलाया था इस निगोड़ी ईद को? इस घर में उसका काम नहीं, लेकिन हामिद! उसे किसी के मरने-जीने के क्या मतलब? उसके अन्दर प्रकाश है, बाहर आशा। विपत्ति अपना सारा दलबल लेकर आये, हामिद की आनंद-भरी चितबन उसका विध्वसं कर देगी।

हामिद भीतर जाकर दादी से कहता है-तुम डरना नहीं अम्माँ, मै सबसे पहले आऊँगा। बिल्कुल न डरना।

अमीना का दिल कचोट रहा है। गाँव के बच्चे अपने-अपने बाप के साथ जा रहे हैं। हामिद का बाप अमीना के सिवा और कौन है! उसे केसे अकेले मेले जाने दे? उस भीड़-भाड़ से बच्चा कहीं खो जाए तो क्या हो? नहीं, अमीना उसे यों न जाने देगी। नन्ही-सी जान! तीन कोस चलेगा कैसे? पैर में छाले पड़ जाएँगे। जूते भी तो नहीं हैं। वह थोड़ी-थोड़ी दूर पर उसे गोद में ले लेती, लेकिन यहाँ सेवैयाँ कोन

पकाएगा? पैसे होते तो लौटते-लोटते सब सामग्री जमा करके चटपट बना लेती। यहाँ तो घंटों चीजें जमा करते लगेंगे। माँगे का ही तो भरोसा ठहरा। उस दिन फहीमन के कपड़े सिले थे। आठ आने पेसे मिले थे। उस उठन्नी को ईमान की तरह बचाती चली आती थी इसी ईद के लिए लेकिन कल ग्वालन सिर पर सवार हो गई तो क्या करती? हामिद के लिए कुछ नहीं हे, तो दो पैसे का दूध तो चाहिए ही। अब तो कुल दो आने पैसे बच रहे हैं। तीन पैसे हामिद की जेब में, पांच अमीना के बटुवें में। यही तो बिसात है और ईद का त्यौहार, अल्ला ही बेड़ा पर लगाए। धोबन और नाइन ओर मेहतरानी और चुड़िहारिन सभी तो आएँगी। सभी को सेवेयाँ चाहिए और थोड़ा किसी को ऑखों नहीं लगता। किस-किस सें मुँह चुरायेगी? और मुँह क्यों चुराए? साल-भर का त्योंहार हैं। जिन्दगी खैरियत से रहें, उनकी तकदीर भी तो उसी के साथ है, बच्चे को खुदा सलामत रखे, यें दिन भी कट जाएँगे।

गाँव से मेला चला। ओर बच्चों के साथ हामिद भी जा रहा था। कभी सबके सब दौड़कर आगे निकल जाते। फिर किसी पेड़ के नींचे खड़े होकर साथ वालों का इंतजार करते। यह लोग क्यों इतना धीरे-धीरे चल रहे हैं? हामिद के पैरो में तो जैसे पर लग गए हैं। वह कभी थक सकता है? शहर का दामन आ गया। सड़क के दोनों ओर अमीरों के बगीचे हैं। पक्की चारदीवारी बनी हुई है। पेड़ो में आम और लीचियाँ लगी हुई हैं। कभी-कभी कोई लड़का कंकड़ी उठाकर आम पर निशान लगाता हे। माली अंदर से गाली देता हुआ निंलता है। लड़के वहाँ से एक फलाँग पर हैं। खूब हँस रहे हैं। माली को केसा उल्लू बनाया है।

बड़ी-बड़ी इमारतें आने लगीं। यह अदालत है, यह कालेज है, यह क्लब घर है। इतने बड़े कालेज में कितने लड़के पढ़ते होंगे? सब लड़के नहीं हैं जी! बड़े-बड़े आदमी हैं, सच! उनकी बड़ी-बड़ी मूँछे हैं। इतने बड़े हो गए, अभी तक पढ़ते जाते हैं। न जाने कब तक पढ़ेंगे ओर क्या करेंगे इतना पढ़कर! हामिद के मदरसे में दो-तीन बड़े-बड़े लड़के हें, बिल्कुल तीन कौड़ी के। रोज मार खाते हैं, काम से जी चुराने वाले। इस जगह भी उसी तरह के लोग होंगे ओर क्या। क्लब-घर में जादू

होता है। सुना है, यहाँ मुर्दो की खोपड़ियां दौड़ती हैं। और बड़े-बड़े तमाशे होते हैं, पर किसी को अंदर नहीं जाने देते। और वहाँ शाम को साहब लोग खेलते हैं। बड़े-बड़े आदमी खेलते हैं, मूँछो-दाढ़ी वाले। और मेमें भी खेलती हैं, सच! हमारी अम्माँ को यह दे दो, क्या नाम है, बैट, तो उसे पकड़ ही न सके। घुमाते ही लुढ़क जाएँ।

महमूद ने कहा-हमारी अम्मीजान का तो हाथ काँपने लगे, अल्ला कसम।

मोहसिन बोल-चलों, मनों आटा पीस डालती हैं। जरा-सा बैट पकड़ लेगी, तो हाथ काँपने लगेंगे! सौकड़ों घड़े पानी रोज निकालती हैं। पाँच घड़े तो तेरी भैंस पी जाती है। किसी मेम को एक घड़ा पानी भरना पड़े, तो आँखों तक अँधेरी आ जाए।

महमूद-लेकिन दौड़तीं तो नहीं, उछल-कूद तो नहीं सकतीं।

मोहसिन-हाँ, उछल-कूद तो नहीं सकतीं; लेकिन उस दिन मेरी गाय खुल गई थी और चौधरी के खेत में जा पड़ी थी, अम्माँ इतना तेज दौड़ी कि मैं उन्हें न पा सका, सच।

आगे चले। हलवाइयों की दुकानें शुरू हुई। आज खूब सजी हुई थीं। इतनी मिठाइयाँ कौन खाता? देखो न, एक-एक दूकान पर मनों होंगी। सुना है, रात को जिन्नात आकर खरीद ले जाते हैं। अब्बा कहते थें कि आधी रात को एक आदमी हर दूकान पर जाता है और जितना माल बचा होता है, वह तुलवा लेता है और सचमुच के रूपये देता है, बिल्कुल ऐसे ही रूपये।

हामिद को यकीन न आया-ऐसे रूपये जिन्नात को कहाँ से मिल जाएँगी?

मोहसिन ने कहा-जिन्नात को रूपये की क्या कमी? जिस खजाने में चाहें चले जाएँ। लोहे के दरवाजे तक उन्हें नहीं रोक सकते जनाब, आप हैं किस फेर में!

हीरे-जवाहरात तक उनके पास रहते हैं। जिससे खुश हो गए, उसे टोकरों जवाहरात दे दिए। अभी यहीं बैठे हैं, पाँच मिनट में कलकत्ता पहुँच जाएँ।

हामिद ने फिर पूछा-जिन्नात बहुत बड़े-बड़े होते हैं?

मोहसिन-एक-एक सिर आसमान के बराबर होता है जी! जमीन पर खड़ा हो जाए तो उसका सिर आसमान से जा लगे, मगर चाहे तो एक लोटे में घुस जाए।

हामिद-लोग उन्हें केसे खुश करते होंगे? कोई मुझे यह मंतर बता दे तो एक जिन्न को खुश कर लूँ।

मोहसिन-अब यह तो न जानता, लेकिन चौधरी साहब के काबू में बहुत-से जिन्नात हैं। कोई चीज चोरी जाए चौधरी साहब उसका पता लगा देंगे ओर चोर का नाम बता देगें। जुमराती का बछवा उस दिन खो गया था। तीन दिन हैरान हुए, कहीं न मिला तब झख मारकर चौधरी के पास गए। चौधरी ने तुरन्त बता दिया, मवेशीखाने में है और वहीं मिला। जिन्नात आकर उन्हें सारे जहान की खबर दे जाते हैं।

अब उसकी समझ में आ गया कि चौधरी के पास क्यों इतना धन है और क्यों उनका इतना सम्मान है।

आगे चले। यह पुलिस लाइन है। यहीं सब कानिसटिबिल कवायद करते हैं। रैटन! फाय फो! रात को बेचारे घूम-घूमकर पहरा देते हैं, नहीं चोरियाँ हो जाएँ। मोहसिन ने प्रतिवाद किया-यह कानिसटिबिल पहरा देते हें? तभी तुम बहुत जानते हों अजी हजरत, यह चोरी करते हैं। शहर के जितने चोर-डाकू हें, सब इनसे मुहल्ले में जाकर 'जागते रहो! जाते रहो!' पुकारते हें। तभी इन लोगों के पास इतने रूपये आते हें। मेरे मामू एक थाने में कानिसटिबिल हें। बारह रूपया महीना पाते हें, लेकिन पचास रूपये घर भेजते हें। अल्ला कसम! मैंने एक बार पूछा था कि मामू, आप इतने रूपये कहाँ से पाते हैं? हँसकर कहने लगे-बेटा, अल्लाह देता है।

फिर आप ही बोले-हम लोग चाहें तो एक दिन में लाखों मार लाएँ। हम तो इतना ही लेते हैं, जिसमें अपनी बदनामी न हो और नौकरी न चली जाए। हामिद ने पूछा-यह लोग चोरी करवाते हैं, तो कोई इन्हें पकड़ता नहीं?

मोहसिन उसकी नादानी पर दया दिखाकर बोला..अरे, पागल! इन्हें कौन पकड़ेगा! पकड़ने वाले तो यह लोग खुद हैं, लेकिन अल्लाह, इन्हें सजा भी खूब देता है। हराम का माल हराम में जाता है। थोड़े ही दिन हुए, मामू के घर में आग लग गई। सारी लेई-पूँजी जल गई। एक बरतन तक न बचा। कई दिन पेड़ के नीचे सोए, अल्ला कसम, पेड़ के नीचे! फिर न जाने कहाँ से एक सौ कर्ज लाए तो बरतन-भाँड़े आए।

हामिद-एक सौ तो पचास से ज्यादा होते है?

'कहाँ पचास, कहाँ एक सौ। पचास एक थैली-भर होता है। सौ तो दो थैलियों में भी न आएँ?

अब बस्ती घनी होने लगी। ईइगाह जाने वालो की टोलियाँ नजर आने लगी। एक से एक भड़कीले वस्त्र पहने हुए। कोई इक्के-ताँगे पर सवार, कोई मोटर पर, सभी इत्र में बसे, सभी के दिलों में उमंग। ग्रामीणों का यह छोटा-सा दल अपनी विपन्नता से बेखबर, सन्तोष ओर धैर्य में मगन चला जा रहा था। बच्चों के लिए नगर की सभी चीजें अनोखी थीं। जिस चीज की ओर ताकते, ताकते ही रह जाते और पीछे से आर्न की आवाज होने पर भी न चेतते। हामिद तो मोटर के नीचे जाते-जाते बचा।

सहसा ईदगाह नजर आई। ऊपर इमली के घने वृक्षों की छाया हे। नाचे पक्का फर्श है, जिस पर जाजम ढिछा हुआ है। और रोजेदारों की पंक्तियाँ एक के पीछे एक न जाने कहाँ वक चली गई हैं, पक्की जगत के नीचे तक, जहाँ जाजम भी नहीं है। नए आने वाले आकर पीछे की कतार में खड़े हो जाते हैं। आगे जगह नहीं हे। यहाँ कोई धन और पद नहीं देखता। इस्लाम की निगाह में सब बराबर

हैं। इन ग्रामीणों ने भी वजू किया ओर पिछली पंक्ति में खड़े हो गए। कितना सुन्दर संचालन है, कितनी सुन्दर व्यवस्था! लाखों सिर एक साथ सिजदे में झुक जाते हैं, फिर सबके सब एक साथ खड़े हो जाते हैं, एक साथ झुकते हैं, और एक साथ खड़े हो जाते हैं, एक साथ खड़े हो जाते हैं, एक साथ झुकते हैं, और एक साथ खड़े हो जाते हैं, कई बार यही क्रिया होती हे, जैसे बिजली की लाखों बत्तियाँ एक साथ प्रदीप्त हों और एक साथ बुझ जाएँ, और यही ग्रम चलता, रहे। कितना अपूर्व दृश्य था, जिसकी सामूहिक क्रियाएँ, विस्तार और अनंतता हृदय को श्रद्धा, गर्व और आत्मानंद से भर देती थीं, मानों भ्रातृत्व का एक सूत्र इन समस्त आत्माओं को एक लड़ी में पिरोए हुए हैं।

2

नमाज खत्म हो गई। लोग आपस में गले मिल रहे हैं। तब मिठाई और खिलौने की दूकान पर धावा होता है। ग्रामीणों का यह दल इस विषय में बालकों से कम उत्साही नहीं है। यह देखो, हिंडोला हें एक पैसा देकर चढ़ जाओ। कभी आसमान पर जाते हुए मालूम होगें, कभी जमीन पर गिरते हुए। यह चर्खी है, लकड़ी के हाथी, घोड़े, ऊँट, छड़ो में लटके हुए हैं। एक पेसा देकर बैठ जाओं और पच्चीस चक्करों का मजा लो। महमूद और मोहसिन ओर नूरे ओर सम्मी इन घोड़ों ओर ऊँटो पर बैठते हें। हामिद दूर खड़ा है। तीन ही पैसे तो उसके पास हैं। अपने कोष का एक तिहाई जरा-सा चक्कर खाने के लिए नहीं दे सकता।

सब चर्खियों से उतरते हैं। अब खिलौने लेंगे। अधर दूकानों की कतार लगी हुई है। तरह-तरह के खिलौने हैं-सिपाही और गुजरिया, राज ओर वकी, भिश्ती और धोबिन और साधु। वह! कत्ते सुन्दर खिलोने हैं। अब बोला ही चाहते हैं। महमूद सिपाही लेता हे, खाकी वर्दी और लाल पगड़ीवाला, कंधें पर बंदूक रखे हुए, मालूम होता हे, अभी कवायद किए चला आ रहा है। मोहसिन को भिश्ती पसंद आया। कमर झुकी हुई है, ऊपर मशक रखे हुए हैं मशक का मुँह एक हाथ से पकड़े हुए है। कितना प्रसन्न है! शायद कोई गीत गा रहा है। बस, मशक से पानी अड़ेला ही चाहता है। नूरे को वकील से प्रेम हे। कैसी विद्वत्ता हे उसके मुख पर! काला

चोगा, नीचे सफेद अचकन, अचकन के सामने की जेब में घड़ी, सुनहरी जंजीर, एक हाथ में कानून का पौथा लिये हुए। मालूम होता है, अभी किसी अदालत से जिरह या बहस किए चले आ रहे है। यह सब दो-दो पैसे के खिलौने हैं। हामिद के पास कुल तीन पैसे हैं, इतने महँगे खिलौन वह केसे ले? खिलौना कहीं हाथ से छूट पड़े तो चूर-चूर हो जाए। जरा पानी पड़े तो सारा रंग घुल जाए। ऐसे खिलौने लेकर वह क्या करेगा, किस काम के!

मोहसिन कहता है-मेरा भिश्ती रोज पानी दे जाएगा साँझ-सबेरे

महमूद-और मेरा सिपाही घर का पहरा देगा कोई चोर आएगा, तो फौरन बंदूक से फैर कर देगा।

नूरे-ओर मेरा वकील खूब मुकदमा लड़ेगा।

सम्मी-ओर मेरी धोबिन रोज कपड़े धोएगी।

हामिद खिलौनों की निंदा करता है-मिट्टी ही के तो हैं, गिरे तो चकनाचूर हो जाएँ, लेकिन ललचाई हुई ऑखों से खिलौनों को देख रहा है और चाहता है कि जरा देर के लिए उन्हें हाथ में ले सकता। उसके हाथ अनायास ही लपकते हैं, लेकिन लड़के इतने त्यागी नहीं होते हैं, विशेषकर जब अभी नया शौक है। हामिद ललचता रह जाता है।

खिलौने के बाद मिठाइयाँ आती हैं। किसी ने रेवड़ियाँ ली हैं, किसी ने गुलाबजामुन किसी ने सोहन हलवा। मजे से खा रहे हैं। हामिद बिरादरी से पृथक है। अभागे के पास तीन पैसे हैं। क्यों नहीं कुछ लेकर खाता? ललचाई ऑखों से सबक ओर देखता है।

मोहसिन कहता है-हामिद रेवड़ी ले जा, कितनी खुशबूदार है!

हामिद को संदेह हुआ, ये केवल क्रूर विनोद हैं मोहसिन इतना उदार नहीं है, लेकिन यह जानकर भी वह उसके पास जाता है। मोहसिन दोने से एक रेवड़ी निकालकर हामिद की ओर बढ़ाता है। हामिद हाथ फैलाता है। मोहसिन रेवड़ी अपने मुँह में रख लेता है। महमूद नूरे ओर सम्मी खूब तालियाँ बजा-बजाकर हँसते हैं। हामिद खिसिया जाता है।

मोहसिन-अच्छा, अबकी जरूर देंगे हामिद, अल्लाह कसम, ले जा।

हामिद-रखे रहो। क्या मेरे पास पैसे नहीं है?

सम्मी-तीन ही पेसे तो हैं। तीन पैसे में क्या-क्या लोगें?

महमूद-हमसे गुलाबजामुन ले जाओ हामिद। मोहमिन बदमाश है।

हामिद-मिठाई कौन बड़ी नेमत है। किताब में इसकी कितनी बुराइयाँ लिखी हैं।

मोहसिन-लेकिन दिन मे कह रहे होगे कि मिले तो खा लें। अपने पैसे क्यों नहीं निकालते?

महमूद-इस समझते हें, इसकी चालाकी। जब हमारे सारे पैसे खर्च हो जाएँगे, तो हमें ललचा-ललचाकर खाएगा।

मिठाइयों के बाद कुछ दूकानें लोहे की चीजों की, कुछ गिलट और कुछ नकली गहनों की। लड़कों के लिए यहाँ कोई आकर्षण न था। वे सब आगे बढ़ जाते हैं, हामिद लोहे की दुकान पर रूक जात हे। कई चिमटे रखे हुए थे। उसे ख्याल आया, दादी के पास चिमटा नहीं है। तबे से रोटियाँ उतारती हैं, तो हाथ जल जाता है। अगर वह चिमटा ले जाकर दादी को दे दे तो वह कितना प्रसन्न होगी! फिर उनकी ऊगलियाँ कभी न जलेंगी। घर में एक काम की चीज हो जाएगी। खिलौने से क्या फायदा? व्यर्थ में पैसे खराब होते हैं। जरा देर ही तो खुशी होती है। फिर तो खिलौने को कोई ऑख उठाकर नहीं देखता। यह तो घर पहुँचते-

पहुँचते टूट-फूट बराबर हो जाएँगे। चिमटा कितने काम की चीज है। रोटियाँ तवे से उतार लो, चूल्हें में सेंक लो। कोई आग माँगने आये तो चटपट चूल्हे से आग निकालकर उसे दे दो। अम्माँ बेचारी को कहाँ फुरसत हे कि बाजार आएँ और इतने पैसे ही कहाँ मिलते हैं? रोज हाथ जला लेती हैं।

हामिद के साथी आगे बढ़ गए हैं। सबील पर सबके सब शर्बत पी रहे हैं। देखो, सब कतने लालची हैं। इतनी मिठाइयाँ लीं, मुझे किसी ने एक भी न दी। उस पर कहते है, मेरे साथ खेलो। मेरा यह काम करों। अब अगर किसी ने कोई काम करने को कहा, तो पूछूँगा। खाए मिठाइयाँ, आप मुँह सड़ेगा, फोड़े-फुन्सियाँ निकलेंगी, आप ही जबान चटोरी हो जाएगी। तब घर से पैसे चुराएँगे और मार खाएँगे। किताब में झूठी बातें थोड़े ही लिखी हें। मेरी जबान क्यों खराब होगी? अम्माँ चिमटा देखते ही दौड़कर मेरे हाथ से ले लेंगी और कहेंगी-मेरा बच्चा अम्माँ के लिए चिमटा लाया है। कितना अच्छा लड़का है। इन लोगों के खिलौने पर कौन इन्हें दुआएँ देगा? बड़ों का दुआएँ सीधे अल्लाह के दरबार में पहुँचती हैं, और तुरंत सुनी जाती हैं। मैं भी इनसे मिजाज क्यों सहूँ? मैं गरीब सही, किसी से कुछ माँगने तो नहीं जाते। आखिर अब्बाजान कभीं न कभी आएँगे। अम्मा भी ऑएगी ही। फिर इन लोगों से पूछूँगा, कितने खिलौने लोगे? एक-एक को टोकरियों खिलौने दूँ और दिखा हूँ कि दोस्तों के साथ इस तरह का सलूक किया जात है। यह नहीं कि एक पैसे की रेवड़ियाँ लीं, तो चिढ़ा-चिढ़ाकर खाने लगे। सबके सब हँसेंगे कि हामिद ने चिमटा लिया है। हँसें! मेरी बला से! उसने दुकानदार से पूछा-यह चिमटा कितने का है?

दुकानदार ने उसकी ओर देखा और कोई आदमी साथ न देखकर कहा-तुम्हारे काम का नहीं है जी!

'बिकाऊ है कि नहीं?'

'बिकाऊ क्यों नहीं है? और यहाँ क्यों लाद लाए हैं?'

तो बताते क्यों नहीं, कै पैसे का है?'

'छः पैसे लगेंगे।'

हामिद का दिल बैठ गया।

'ठीक-ठीक पाँच पैसे लगेंगे, लेना हो लो, नहीं चलते बनो।'

हामिद ने कलेजा मजबूत करके कहा- तीन पैसे लोगे?

यह कहता हुआ वह आगे बढ़ गया कि दुकानदार की घुड़कियाँ न सुने। लेकिन दुकानदार ने घुड़कियाँ नहीं दी। बुलाकर चिमटा दे दिया। हामिद ने उसे इस तरह कंधे पर रखा, मानों बंदूक है और शान से अकड़ता हुआ संगियों के पास आया। जरा सुनें, सबके सब क्या-क्या आलोचनाएँ करते हैं!

मोहसिन ने हँसकर कहा-यह चिमटा क्यों लाया पगले, इसे क्या करेगा?

हामिद ने चिमटे को जमीन पर पटकर कहा-जरा अपना भिश्ती जमीन पर गिरा दो। सारी पसलियाँ चूर-चूर हो जाएँ बचा की।
महमूद बोला-तो यह चिमटा कोई खिलौना है?

हामिद-खिलौना क्यों नही है! अभी कन्धे पर रखा, बंदूक हो गई। हाथ में ले लिया, फकीरों का चिमटा हो गया। चाहूँ तो इससे मजीरे काकाम ले सकता हूँ। एक चिमटा जमा दूँ, तो तुम लोगों के सारे खिलौनों की जान निकल जाए। तुम्हारे खिलौने कितना ही जोर लगाएँ, मेरे चिमटे का बाल भी बाँका नही कर सकतें मेरा बहादुर शेर है चिमटा।

सम्मी ने खँजरी ली थी। प्रभावित होकर बोला-मेरी खँजरी से बदलोगे? दो आने की है।

हामिद ने खँजरी की ओर उपेक्षा से देखा-मेरा चिमटा चाहे तो तुम्हारी खॅजरी का पेट फाड़ डाले। बस, एक चमड़े की झिल्ली लगा दी, ढब-ढब बोलने लगी। जरा-सा पानी लग जाए तो खत्म हो जाए। मेरा बहादुर चिमटा आग में, पानी में, आँधी में, तूफान में बराबर डटा खड़ा रहेगा।

चिमटे ने सभी को मोहित कर लिया, अब पैसे किसके पास धरे हैं? फिर मेले से दूर निकल आए हें, नौ कब के बज गए, धूप तेज हो रही है। घर पहुंचने की जल्दी हो रही हे। बाप से जिद भी करें, तो चिमटा नहीं मिल सकता। हामिद है बड़ा चालाक। इसीलिए बदमाश ने अपने पैसे बचा रखे थे।

अब बालकों के दो दल हो गए हैं। मोहसिन, महमद, सम्मी और नूरे एक तरफ हैं, हामिद अकेला दूसरी तरफ। शास्त्रर्थ हो रहा है। सम्मी तो विधर्मी हा गया! दूसरे पक्ष से जा मिला, लेकिन मोहसिन, महमूद और नूरे भी हामिद से एक-एक, दो-दो साल बड़े होने पर भी हामिद के आघातों से आतंकित हो उठे हैं। उसके पास न्याय का बल है और नीति की शक्ति। एक ओर मिट्टी है, दूसरी ओर लोहा, जो इस वक्त अपने को फौलाद कह रहा है। वह अजेय है, घातक है। अगर कोई शेर आ जाए मियॉ भिश्ती के छक्के छूट जाएँ, जो मियॉ सिपाही मिट्टी की बंदूक छोड़कर भागे, वकील साहब की नानी मर जाए, चोगे में मुंह छिपाकर जमीन पर लेट जाएँ। मगर यह चिमटा, यह बहादुर, यह रूस्तमे-हिंद लपककर शेर की गरदन पर सवार हो जाएगा और उसकी ऑखे निकाल लेगा।

मोहसिन ने एड़ी-चोटी का जारे लगाकर कहा-अच्छा, पानी तो नहीं भर सकता?

हामिद ने चिमटे को सीधा खड़ा करके कहा-भिश्ती को एक डांट बताएगा, तो दौड़ा हुआ पानी लाकर उसके द्वार पर छिड़कने लगेगा।

मोहसिन परास्त हो गया, पर महमूद ने कुमुक पहुँचाई-अगर बचा पकड़ जाएँ तो अदालम में बॅधे-बँधे फिरेंगे। तब तो वकील साहब के पैरों पड़ेगे।

हामिद इस प्रबल तर्क का जवाब न दे सका। उसने पूछा-हमें पकड़ने कौने आएगा?

नूरे ने अकड़कर कहा-यह सिपाही बंदूकवाला।

हामिद ने मुँह चिढ़ाकर कहा-यह बेचारे हम बहादुर रूस्तमे-हिंद को पकड़ेगें! अच्छा लाओ, अभी जरा कुश्ती हो जाए। इसकी सूरत देखकर दूर से भागेंगे। पकड़ेगें क्या बेचारे!

मोहसिन को एक नई चोट सूझ गई-तुम्हारे चिमटे का मुँह रोज आग में जलेगा।

उसने समझा था कि हामिद लाजवाब हो जाएगा, लेकिन यह बात न हुई। हामिद ने तुरंत जवाब दिया-आग में बहादुर ही कूदते हैं जनाब, तुम्हारे यह वकील, सिपाही और भिश्ती लैडियों की तरह घर में घुस जाएँगे। आग में वह काम है, जो यह रूस्तमे-हिन्द ही कर सकता है।

महमूद ने एक जोर लगाया-वकील साहब कुरसी-मेज पर बैठेगे, तुम्हारा चिमटा तो बाबरचीखाने में जमीन पर पड़ा रहने के सिवा और क्या कर सकता है?

इस तर्क ने सम्मी और नूरे को भी राजी कर दिया! कितने ठिकाने की बात कही हे पट्ठे ने! चिमटा बावरचीखाने में पड़ा रहने के सिवा और क्या कर सकता है?

हामिद को कोई फड़कता हुआ जवाब न सूझा, तो उसने धाँधली शुरू की-मेरा चिमटा बावरचीखाने में नही रहेगा। वकील साहब कुर्सी पर बैठेगें, तो जाकर उन्हे जमीन पर पटक देगा और उनका कानून उनके पेट में डाल देगा।

बात कुछ बनी नही। खाल गाली-गलौज थी, लेकिन कानून को पेट में डालनेवाली बात छा गई। ऐसी छा गई कि तीनों सूरमा मुँह ताकते रह गए मानो कोई धेलचा कानकौआ किसी गंडेवाले कनकौए को काट गया हो। कानून मुँह से बाहर

निकलने वाली चीज हे। उसको पेट के अन्दर डाल दिया जाना बेतुकी-सी बात होने पर भी कुछ नयापन रखती हे। हामिद ने मैदान मार लिया। उसका चिमटा रूस्तमे-हिन्द हे। अब इसमें मोहसिन, महमूद नूरे, सम्मी किसी को भी आपत्ति नहीं हो सकती।

विजेता को हारनेवालों से जो सत्कार मिलना स्वाभविक है, वह हामिद को भी मिल। औरों ने तीन-तीन, चार-चार आने पैसे खर्च किए, पर कोई काम की चीज न ले सके। हामिद ने तीन पैसे में रंग जमा लिया। सच ही तो है, खिलौनों का क्या भरोसा? टूट-फूट जाएँगी। हामिद का चिमटा तो बना रहेगा बरसों?

संधि की शर्ते तय होने लगीं। मोहसिन ने कहा-जरा अपना चिमटा दो, हम भी देखें। तुम हमारा भिश्ती लेकर देखो।

महमूद और नूरे ने भी अपने-अपने खिलौने पेश किए।

हामिद को इन शर्तो को मानने में कोई आपत्ति न थी। चिमटा बारी-बारी से सबके हाथ में गया, और उनके खिलौने बारी-बारी से हामिद के हाथ में आए। कितने खूबसूरत खिलौने हैं।

हामिद ने हारने वालों के आँसू पोंछे-मैं तुम्हे चिढ़ा रहा था, सच! यह चिमटा भला, इन खिलौनों की क्या बराबर करेगा, मालूम होता है, अब बोले, अब बोले।

लेकिन मोहसिन की पार्टी को इस दिलासे से संतोष नहीं होता। चिमटे का सिक्का खूब बैठ गया है। चिपका हुआ टिकट अब पानी से नहीं छूट रहा है।

मोहसिन-लेकिन इन खिलौनों के लिए कोई हमें दुआ तो न देगा?

महमूद-दुआ को लिये फिरते हो। उल्टे मार न पड़े। अम्माँ जरूर कहेंगी कि मेले में यही मिट्टी के खिलौने मिले?

हामिद को स्वीकार करना पड़ा कि खिलौनों को देखकर किसी की माँ इतनी खुश न होगी, जितनी दादी चिमटे को देखकर होंगी। तीन पैसों ही में तो उसे सब-कुछ करना था ओर उन पैसों के इस उपयों पर पछतावे की बिल्कुल जरूरत न थी। फिर अब तो चिमटा रूस्तमें-हिन्द हे ओर सभी खिलौनों का बादशाह।

रास्ते में महमूद को भूख लगी। उसके बाप ने केले खाने को दियें। महमून ने केवल हामिद को साझी बनाया। उसके अन्य मित्र मुंह ताकते रह गए। यह उस चिमटे का प्रसाद थां।

3

ग्यारह बजे गॉव में हलचल मच गई। मेलेवाले आ गए। मोहसिन की छोटी बहन दौड़कर भिश्ती उसके हाथ से छीन लिया और मारे खुशी के जा उछली, तो मियॉ भिश्ती नीचे आ रहे और सुरलोक सिधारे। इस पर भाई-बहन में मार-पीट हुई। दानों खुब रोए। उसकी अम्माँ यह शोर सुनकर बिगड़ी और दोनों को ऊपर से दो-दो चॉटे और लगाए।

मियॉ नूरे के वकील का अंत उनके प्रतिष्ठानुकूल इससे ज्यादा गौरवमय हुआ। वकील जमीन पर या ताक पर हो नहीं बैठ सकता। उसकी मर्यादा का विचार तो करना ही होगा। दीवार में खूँटियाँ गाड़ी गई। उन पर लकड़ी का एक पटरा रखा गया। पटरे पर कागज का कालीन बिदाया गया। वकील साहब राजा भोज की भाँति सिंहासन पर विराजे। नूरे ने उन्हें पंखा झलना शुरू किया। अदालतों में खर की टट्टियॉ और बिजली के पंखे रहते हें। क्या यहाँ मामूली पंखा भी न हो! कानून की गर्मी दिमाग पर चढ़ जाएगी कि नहीं? बॉस का पंखा आया ओर नूरे हवा करने लगें मालूम नहीं, पंखे की हवा से या पंखे की चोट से वकील साहब स्वर्गलोक से मृत्युलोक में आ रहे और उनका माटी का चोला माटी में मिल गया! फिर बड़े जोर-शोर से मातम हुआ और वकील साहब की अस्थियॉ घूरे पर डाल दी गई।

अब रहा महमूद का सिपाही। उसे चटपट गाँव का पहरा देने का चार्ज मिल गया, लेकिन पुलिस का सिपाही कोई साधारण व्यक्ति तो नहीं, जो अपने पैरों चलें वह पालकी पर चलेगा। एक टोकरी आई, उसमें कुछ लाल रंग के फटे-पुराने चिथड़े बिछाए गए जिसमें सिपाही साहब आराम से लेटे। नूरे ने यह टोकरी उठाई और अपने द्वार का चक्कर लगाने लगे। उनके दोनों छोटे भाई सिपाही की तरह 'छोनेवाले, जागते लहो' पुकारते चलते हैं। मगर रात तो अँधेरी होनी चाहिए, नूरे को ठोकर लग जाती है। टोकरी उसके हाथ से छूटकर गिर पड़ती है और मियाँ सिपाही अपनी बन्दूक लिये जमीन पर आ जाते हैं और उनकी एक टाँग में विकार आ जाता है।

महमूद को आज ज्ञात हुआ कि वह अच्छा डाक्टर है। उसको ऐसा मरहम मिला गया है जिससे वह टूटी टाँग को आनन-फानन जोड़ सकता हे। केवल गूलर का दूध चाहिए। गूलर का दूध आता है। टाँग जवाब दे देती है। शल्य-क्रिया असफल हुई, तब उसकी दूसरी टाँग भी तोड़ दी जाती है। अब कम-से-कम एक जगह आराम से बैठ तो सकता है। एक टाँग से तो न चल सकता था, न बैठ सकता था। अब वह सिपाही संन्यासी हो गया है। अपनी जगह पर बैठा-बैठा पहरा देता है। कभी-कभी देवता भी बन जाता है। उसके सिर का झालरदार साफा खुरच दिया गया है। अब उसका जितना रूपांतर चाहों, कर सकते हो। कभी-कभी तो उससे बाट का काम भी लिया जाता है।

अब मियाँ हामिद का हाल सुनिए। अमीना उसकी आवाज सुनते ही दौड़ी और उसे गोद में उठाकर प्यार करने लगी। सहसा उसके हाथ में चिमटा देखकर वह चौंकी।

'यह चिमटा कहाँ था?'

'मैंने मोल लिया है।'

'कै पैसे में?'

‘तीन पैसे दिये।’

अमीना ने छाती पीट ली। यह कैसा बेसमझ लड़का है कि दोपहर हुआ, कुछ खाया न पिया। लाया क्या, चिमटा! ‘सारे मेले में तुझे और कोई चीज न मिली, जो यह लोहे का चिमटा उठा लाया?’

हामिद ने अपराधी-भाव से कहा-तुम्हारी उँगलियाँ तवे से जल जाती थीं, इसलिए मैने इसे लिया।

बुढ़िया का क्रोध तुरन्त स्नेह में बदल गया, और स्नेह भी वह नहीं, जो प्रगल्भ होता हे और अपनी सारी कसक शब्दों में बिखेर देता है। यह मूक स्नेह था, खूब ठोस, रस और स्वाद से भरा हुआ। बच्चे में कितना व्याग, कितना सदभाव और कितना विवेक है! दूसरों को खिलौने लेते और मिठाई खाते देखकर इसका मन कितना ललचाया होगा? इतना जब्त इससे हुआ कैसे? वहाँ भी इसे अपनी बुढ़िया दादी की याद बनी रही। अमीना का मन गदगद हो गया।

और अब एक बड़ी विचित्र बात हुई। हामिद कें इस चिमटे से भी विचित्र। बच्चे हामिद ने बूढ़े हामिद का पार्ट खेला था। बुढ़िया अमीना बालिका अमीना बन गई। वह रोने लगी। दामन फैलाकर हामिद को दुआएँ देती जाती थी और आँसूं की बड़ी-बड़ी बूंदे गिराती जाती थी। हामिद इसका रहस्य क्या समझता!

***

ठाकुर का कुआँ

जोखू ने लोटा मुंह से लगाया तो पानी में सख्त बदबू आई। गंगी से बोला-यह कैसा पानी है ? मारे बास के पिया नहीं जाता। गला सूखा जा रहा है और तू सडा पानी पिलाए देती है !

गंगी प्रतिदिन शाम पानी भर लिया करती थी। कुआं दूर था, बार-बार जाना मुश्किल था। कल वह पानी लायी, तो उसमें बू बिलकुल न थी, आज पानी में बदबू कैसी ! लोटा नाक से लगाया, तो सचमुच बदबू थी। जरुर कोई जानवर कुएं में गिरकर मर गया होगा, मगर दूसरा पानी आवे कहां से?

ठाकुर के कुंए पर कौन चढ़नें देगा ? दूर से लोग डाँट बताएँगे। साहू का कुआँ गाँव के उस सिरे पर है, परन्तु वहाँ कौन पानी भरने देगा ? कोई कुआँ गाँव में नहीं है।

जोखू कई दिन से बीमार हैं। कुछ देर तक तो प्यास रोके चुप पड़ा रहा, फिर बोला-अब तो मारे प्यास के रहा नहीं जाता। ला, थोड़ा पानी नाक बंद करके पी लूं।

गंगी ने पानी न दिया। खराब पानी से बीमारी बढ़ जाएगी इतना जानती थी, परंतु यह न जानती थी कि पानी को उबाल देने से उसकी खराबी जाती रहती हैं। बोली-यह पानी कैसे पियोंगे ? न जाने कौन जानवर मरा हैं। कुएँ से मै दूसरा पानी लाए देती हूँ।

जोखू ने आश्चर्य से उसकी ओर देखा-पानी कहाँ से लाएगी ?

ठाकुर और साहू के दो कुएँ तो हैं। क्यो एक लोटा पानी न भरन देंगे?

'हाथ-पांव तुड़वा आएगी और कुछ न होगा। बैठ चुपके से। ब्राहम्ण देवता आशीर्वाद देंगे, ठाकुर लाठी मारेगें, साहूजी एक पांच लेगें। गराबी का दर्द कौन

समझता हैं ! हम तो मर भी जाते है, तो कोई दुआर पर झाँकनें नहीं आता, कंधा देना तो बड़ी बात है। ऐसे लोग कुएँ से पानी भरने देंगें ?'

इन शब्दों में कड़वा सत्य था। गंगी क्या जवाब देती, किन्तु उसने वह बदबूदार पानी पीने को न दिया।

2

रात के नौ बजे थे। थके-माँदे मजदूर तो सो चुके थें, ठाकुर के दरवाजे पर दस-पाँच बेफिक्रे जमा थें मैदान में। बहादुरी का तो न जमाना रहा है, न मौका। कानूनी बहादुरी की बातें हो रही थीं। कितनी होशियारी से ठाकुर ने थानेदार को एक खास मुकदमे की नकल ले आए। नाजिर और मोहतिमिम, सभी कहते थें, नकल नहीं मिल सकती। कोई पचास माँगता, कोई सौ। यहाँ बे-पैसे-कौड़ी नकल उड़ा दी। काम करने ढ़ग चाहिए।

इसी समय गंगी कुएँ से पानी लेने पहुँची।

कुप्पी की धुँधली रोशनी कुएँ पर आ रही थी। गंगी जगत की आड़ मे बैठी मौके का इंतजार करने लगी। इस कुँए का पानी सारा गाँव पीता हैं। किसी के लिए रोका नहीं, सिर्फ ये बदनसीब नहीं भर सकते।

गंगी का विद्रोही दिल रिवाजी पाबंदियों और मजबूरियों पर चोटें करने लगा-हम क्यों नीच हैं और ये लोग क्यों ऊचें हैं ? इसलिए किये लोग गले में तागा डाल लेते हैं ? यहाँ तो जितने है, एक-से-एक छँटे हैं। चोरी ये करें, जाल-फरेब ये करें, झूठे मुकदमे ये करें। अभी इस ठाकुर ने तो उस दिन बेचारे गड़रिए की भेड़ चुरा ली थी और बाद मे मारकर खा गया। इन्हीं पंडित के घर में तो बारहों मास जुआ होता है। यही साहू जी तो घी में तेल मिलाकर बेचते है। काम करा लेते हैं, मजूरी देते नानी मरती है। किस-किस बात मे हमसे ऊँचे हैं, हम गली-गली चिल्लाते नहीं कि हम ऊँचे है, हम ऊँचे। कभी गाँव में आ जाती हूँ, तो रस-भरी

आँख से देखने लगते हैं। जैसे सबकी छाती पर साँप लोटने लगता है, परंतु घमंड यह कि हम ऊँचे हैं!

कुएँ पर किसी के आने की आहट हुई। गंगी की छाती धक-धक करने लगी। कहीं देख ले तो गजब हो जाए। एक लात भी तो नीचे न पड़े। उसाने घड़ा और रस्सी उठा ली और झुककर चलती हुई एक वृक्ष के अँधरे साए मे जा खड़ी हुई। कब इन लोगों को दया आती है किसी पर ! बेचारे महगू को इतना मारा कि महीनो लहू थूकता रहा। इसीलिए तो कि उसने बेगार न दी थी। इस पर ये लोग ऊँचे बनते हैं ?

कुएँ पर स्त्रियाँ पानी भरने आयी थी। इनमें बात हो रही थीं।

'खान खाने चले और हुक्म हुआ कि ताजा पानी भर लाओं। घड़े के लिए पैसे नहीं है।'

हम लोगों को आराम से बैठे देखकर जैसे मरदों को जलन होती हैं।'

'हाँ, यह तो न हुआ कि कलसिया उठाकर भर लाते। बस, हुकुम चला दिया कि ताजा पानी लाओ, जैसे हम लौंडियाँ ही तो हैं।'

'लौडिंयाँ नहीं तो और क्या हो तुम? रोटी-कपड़ा नहीं पातीं ? दस-पाँच रुपये भी छीन-झपटकर ले ही लेती हो। और लौडियॉ कैसी होती हैं!'

'मत लजाओं, दीदी! छिन-भर आराम करने को ती तरसकर रह जाता है। इतना काम किसी दूसरे के घर कर देती, तो इससे कहीं आराम से रहती। ऊपर से वह एहसान मानता ! यहॉ काम करते-करते मर जाओं, पर किसी का मुँह ही सीधा नहीं होता।'

दोनों पानी भरकर चली गई, तो गंगी वृक्ष की छाया से निकली और कुएँ की जगत के पास आयी। बेफिक्रे चले गऐ थें। ठाकुर भी दरवाजा बंदर कर अंदर

ऑंगन में सोने जा रहे थें। गंगी ने क्षणिक सुख की सॉस ली। किसी तरह मैदान तो साफ हुआ। अमृत चुरा लाने के लिए जो राजकुमार किसी जमाने में गया था, वह भी शायद इतनी सावधानी के साथ और समझ्-बूझकर न गया हो। गंगी दबे पॉव कुऍं की जगत पर चढ़ी, विजय का ऐसा अनुभव उसे पहले कभी न हुआ।

उसने रस्सी का फंदा घड़े में डाला। दाऍं-बाऍं चौकनी दृष्टी से देखा जैसे कोई सिपाही रात को शत्रु के किले में सूराख कर रहा हो। अगर इस समय वह पकड़ ली गई, तो फिर उसके लिए माफी या रियायत की रत्ती-भर उम्मीद नहीं। अंत मे देवताओं को याद करके उसने कलेजा मजबूत किया और घड़ा कुऍं में डाल दिया।

घड़े ने पानी में गोता लगाया, बहुत ही आहिस्ता। जरा-सी आवाज न हुई। गंगी ने दो-चार हाथ जल्दी-जल्दी मारे।घड़ा कुऍं के मुँह तक आ पहुँचा। कोई बड़ा शहजोर पहलवान भी इतनी तेजी से न खींसच सकता था।

गंगी झुकी कि घड़े को पकड़कर जगत पर रखें कि एकाएक ठाकुर साहब का दरवाजा खुल गया। शेर का मुँह इससे अधिक भयानक न होगा।

गंगी के हाथ रस्सी छूट गई। रस्सी के साथ घड़ा धड़ाम से पानी में गिरा और कई क्षण तक पानी में हिलकोरे की आवाजें सुनाई देती रहीं।

ठाकुर कौन है, कौन है ? पुकारते हुए कुऍं की तरफ जा रहे थें और गंगी जगत से कूदकर भागी जा रही थी।

घर पहुँचकर देखा कि लोटा मुंह से लगाए वही मैला गंदा पानी रहा है।

***

पूस की रात

हल्कू ने आकर स्त्री से कहा-सहना आया है। लाओं, जो रुपये रखे हैं, उसे दे दूँ, किसी तरह गला तो छूटे।

मुन्नी झाड़ू लगा रही थी। पीछे फिरकर बोली-तीन ही रुपये हैं, दे दोगे तो कम्मल कहाँ से आवेगा? माघ-पूस की रात हार में कैसे कटेगी ? उससे कह दो, फसल पर दे देंगें। अभी नहीं।

हल्कू एक क्षण अनिशिचत दशा में खड़ा रहा। पूस सिर पर आ गया, कम्बल के बिना हार मे रात को वह किसी तरह सो नहीं सकता। मगर सहना मानेगा नहीं, घुड़कियाँ जमावेगा, गालियॉ देगा। बला से जाड़ों मे मरेंगे, बला तो सिर से टल जाएगी। यह सोचता हुआ वह अपना भारी-भरकम डील लिए हुए (जो उसके नाम को झूठ सिध्द करता था) स्त्री के समीप आ गया और खुशामद करके बोला-दे दे, गला तो छूटे।कम्मल के लिए कोई दूसरा उपाय सोचँगा।

मुन्नी उसके पास से दूर हट गई और ऑखें तरेरती हुई बोली-कर चुके दूसरा उपाय! जरा सुनूँ तो कौन-सा उपाय करोगे ? कोई खैरात दे देगा कम्मल ? न जान कितनी बाकी है, जों किसी तरह चुकने ही नहीं आती। मैं कहती हूं, तुम क्यों नहीं खेती छोड़ देते ? मर-मर काम करों, उपज हो तो बाकी दे दो, चलो छुटटी हुई। बाकी चुकाने के लिए ही तो हमारा जनम हुआ हैं। पेट के लिए मजूरी करों। ऐसी खेती से बाज आयें। मैं रुपयें न दूँगी, न दूँगी।

हल्कू उदास होकर बोला-तो क्या गाली खाऊँ ?

मुन्नी ने तड़पकर कहा-गाली क्यों देगा, क्या उसका राज है ?

मगर यह कहने के साथ् ही उसकी तनी हुई भौहें ढ़ीली पड़ गई। हल्कू के उस

वाक्य में जो कठोर सत्य था, वह मानो एक भीषण जंतु की भाँति उसे घूर रहा था।

उसने जाकर आले पर से रुपये निकाले और लाकर हल्कू के हाथ पर रख दिए। फिर बोली-तुम छोड़ दो अबकी से खेती। मजूरी में सुख से एक रोटी तो खाने को मिलेगी। किसी की धौंस तो न रहेगी। अच्छी खेती है ! मजूरी करके लाओं, वह भी उसी में झोंक दो, उस पर धौंस।

हल्कू न रुपयें लिये और इस तरह बाहर चला, मानो अपना हृदय निकालकर देने जा रहा हों। उसने मजूरी से एक-एक पैसा काट-काटकर तीन रुपये कम्बल के लिए जमा किए थें। वह आज निकले जा रहे थे। एक-एक पग के साथ उसका मस्तक पानी दीनता के भार से दबा जा रहा था।

2

पूस की अँधेरी रात ! आकाश पर तारे भी ठिठुरते हुए मालूम होते थे। हल्कू अपने खेत के किनारे ऊख के पतों की एक छतरी के नीचे बॉस के खटाले पर अपनी पुरानी गाढ़े की चादर ओढ़े पड़ा कॉप रहा था। खाट के नीचे उसका संगी कुत्ता जबरा पेट मे मुँह डाले सर्दी से कूँ-कूँ कर रहा था। दो मे से एक को भी नींद नहीं आ रही थी।

हल्कू ने घुटनियों कों गरदन में चिपकाते हुए कहा-क्यों जबरा, जाड़ा लगता है ? कहता तो था, घर में पुआल पर लेट रह, तो यहाँ क्या लेने आये थें ? अब खाओं ठंड, मै क्या करूँ ? जानते थें, मै। यहाँ हलुआ-पूरी खाने आ रहा हूँ, दोड़े-दौड़े आगे-आगे चले आये। अब रोओ नानी के नाम को।

जबरा ने पड़े-पड़े दुम हिलायी और अपनी कूँ-कूँ को दीर्घ बनाता हुआ कहा-कल से मत आना मेरे साथ, नहीं तो ठंडे हो जाओगे। यीह रांड पछुआ न जाने कहाँ से बरफ लिए आ रही हैं। उठूँ, फिर एक चिलम भरूँ। किसी तरह रात तो कटे !

आठ चिलम तो पी चुका। यह खेती का मजा हैं ! और एक भगवान ऐसे पड़े हैं, जिनके पास जाड़ा आए तो गरमी से घबड़ाकर भागे। मोटे-मोटे गददे, लिहाफ, कम्बल। मजाल है, जाड़े का गुजर हो जाए। जकदीर की खूबी ! मजूरी हम करें, मजा दूसरे लूटें !

हल्कू उठा, गड्ढ़े मे से जरा-सी आग निकालकर चिलम भरी। जबरा भी उठ बैठा।

हल्कू ने चिलम पीते हुए कहा-पिएगा चिलम, जाड़ा तो क्या जाता हैं, हॉ जरा, मन बदल जाता है।

जबरा ने उनके मुँह की ओर प्रेम से छलकता हुई ऑखों से देखा।

हल्कू-आज और जाड़ा खा ले। कल से मैं यहाँ पुआल बिछा दूँगा। उसी में घुसकर बैठना, तब जाड़ा न लगेगा।

जबरा ने अपने पंजो उसकी घुटनियों पर रख दिए और उसके मुँह के पास अपना मुँह ले गया। हल्कू को उसकी गर्म सॉस लगी।

चिलम पीकर हल्कू फिर लेटा और निश्चय करके लेटा कि चाहे कुछ हो अबकी सो जाऊँगा, पर एक ही क्षण में उसके हृदय में कम्पन होने लगा। कभी इस करवट लेटता, कभी उस करवट, पर जाड़ा किसी पिशाच की भॉति उसकी छाती को दबाए हुए था।

जब किसी तर न रहा गया, उसने जबरा को धीरे से उठाया और उसक सिर को थपथपाकर उसे अपनी गोद में सुला लिया। कुत्ते की देह से जाने कैसी दुर्गंध आ रही थी, पर वह उसे अपनी गोद मे चिपटाए हुए ऐसे सुख का अनुभव कर रहा था, जो इधर महीनों से उसे न मिला था। जबरा शायद यह समझ रहा था कि स्वर्ग यहीं है, और हल्कू की पवित्र आत्मा में तो उस कुत्ते के प्रति घृणा की गंध तक न ,थी। अपने किसी अभिन्न मित्र या भाई को भी वह इतनी ही तत्परता से

गले लगाता। वह अपनी दीनता से आहत न था, जिसने आज उसे इस दशा कोपहुंचा दिया। नहीं, इस अनोखी मैत्री ने जैसे उसकी आत्मा के सब द्वार खोल दिए थे और उनका एक-एक अणु प्रकाश से चमक रहा था।

सहसा जबरा ने किसी जानवर की आहट पाई। इस विशेष आत्मीयता ने उसमे एक नई स्फूर्ति पैदा कर रही थी, जो हवा के ठंडें झोकों को तुच्छ समझती थी। वह झपटकर उठा और छपरी से बाहर आकर भूँकने लगा। हल्कू ने उसे कई बार चुमकारकर बुलाया, पर वह उसके पास न आया। हार मे चारों तरफ दौड़-दौड़कर भूँकता रहा। एक क्षण के लिए आ भी जाता, तो तुरंत ही फिर दौड़ता। कर्त्तव्य उसके हृदय में अरमान की भाँति ही उछल रहा था।

3

एक घंटा और गुजर गया। रात ने शीत को हवा से धधकाना शुरु किया।

हल्कू उठ बैठा और दोनों घुटनों को छाती से मिलाकर सिर को उसमें छिपा लिया, फिर भी ठंड कम न हुई, ऐसा जान पड़ता था, सारा रक्त जम गया हैं, धमनियों मे रक्त की जगह हिम बह रहीं है। उसने झुककर आकाश की ओर देखा, अभी कितनी रात बाकी है ! सप्तर्षि अभी आकाश में आधे भी नहीं चढ़े। ऊपर आ जाएँगे तब कहीं सबेरा होगा। अभी पहर से ऊपर रात हैं।

हल्कू के खेत से कोई एक गोली के टप्पे पर आमों का एक बाग था। पतझड़ शुरु हो गई थी। बाग में पत्तियो को ढेर लगा हुआ था। हल्कू ने सोच, चलकर पत्तियों बटोरूँ और उन्हें जलाकर खूब तापूँ। रात को कोई मुझें पत्तियों बटारते देख तो समझे, कोई भूत है। कौन जाने, कोई जानवर ही छिपा बैठा हो, मगर अब तो बैठे नहीं रह जाता।

उसने पास के अरहर के खेत मे जाकर कई पौधें उखाड़ लिए और उनका एक झाड़ू बनाकर हाथ में सुलगता हुआ उपला लिये बगीचे की तरफ चला। जबरा ने

उसे आते देखा, पास आया और दुम हिलाने लगा।

हल्कू ने कहा-अब तो नहीं रहा जाता जबरू। चलो बगीचे में पत्तियों बटोरकर तापें। टॉटे हो जाएँगे, तो फिर आकर सोएँगें। अभी तो बहुत रात है।

जबरा ने कूँ-कूँ करें सहमति प्रकट की और आगे बगीचे की ओर चला।

बगीचे में खूब अँधेरा छाया हुआ था और अंधकार में निर्दय पवन पत्तियों को कुचलता हुआ चला जाता था। वृक्षों से ओस की बूँदे टप-टप नीचे टपक रही थीं।

एकाएक एक झोंका मेहँदी के फूलों की खूशबू लिए हुए आया।

हल्कू ने कहा-कैसी अच्छी महक आई जबरू ! तुम्हारी नाक में भी तो सुगंध आ रही हैं ?

जबरा को कहीं जमीन पर एक हडडी पड़ी मिल गई थी। उसे चिंचोड़ रहा था।

हल्कू ने आग जमीन पर रख दी और पत्तियों बठारने लगा। जरा देर में पत्तियों का ढेर लग गया था। हाथ ठिठुरे जाते थें। नगें पांव गले जाते थें। और वह पत्तियों का पहाड़ खड़ा कर रहा था। इसी अलाव में वह ठंड को जलाकर भस्म कर देगा।

थोड़ी देर में अलावा जल उठा। उसकी लौ ऊपर वाले वृक्ष की पत्तियों को छू-छूकर भागने लगी। उस अस्थिर प्रकाश में बगीचे के विशाल वृक्ष ऐसे मालूम होते थें, मानो उस अथाह अंधकार को अपने सिरों पर सँभाले हुए हों। अन्धकार के उस अनंत सागर मे यह प्रकाश एक नौका के समान हिलता, मचलता हुआ जान पड़ता था।

हल्कू अलाव के सामने बैठा आग ताप रहा था। एक क्षण में उसने दोहर उताकर बगल में दबा ली, दोनों पॉवं फैला दिए, मानों ठंड को ललकार रहा हो, तेरे जी में

आए सो कर। ठंड की असीम शक्ति पर विजय पाकर वह विजय-गर्व को हृदय में छिपा न सकता था।

उसने जबरा से कहा-क्यों जब्बर, अब ठंड नहीं लग रही है ?

जब्बर ने कूँ-कूँ करके मानो कहा-अब क्या ठंड लगती ही रहेगी ?

'पहले से यह उपाय न सूझा, नहीं इतनी ठंड क्यों खातें।'

जब्बर ने पूँछ हिलायी।

अच्छा आओ, इस अलाव को कूदकर पार करें। देखें, कौन निकल जाता है। अगर जल गए बचा, तो मैं दवा न करूँगा।

जब्बर ने उस अग्नि-राशि की ओर कातर नेत्रों से देखा !

मुन्नी से कल न कह देना, नहीं लड़ाई करेगी।

यह कहता हुआ वह उछला और उस अलाव के ऊपर से साफ निकल गया। पैरों में जरा लपट लगी, पर वह कोई बात न थी। जबरा आग के गिर्द घूमकर उसके पास आ खड़ा हुआ।

हल्कू ने कहा-चलो-चलों इसकी सही नहीं ! ऊपर से कूदकर आओ। वह फिर कूदा और अलाव के इस पार आ गया।

4

पत्तियाँ जल चुकी थीं। बगीचे में फिर अँधेरा छा गया था। राख के नीचे कुछ-कुछ आग बाकी थी, जो हवा का झोंका आ जाने पर जरा जाग उठती थी, पर एक

क्षण में फिर ऑंखे बन्द कर लेती थी !

हल्कू ने फिर चादर ओढ़ ली और गर्म राख के पास बैठा हुआ एक गीत गुनगुनाने लगा। उसके बदन में गर्मी आ गई थी, पर ज्यों-ज्यों शीत बढ़ती जाती थी, उसे आलस्य दबाए लेता था।

जबरा जोर से भूँककर खेत की ओर भागा। हल्कू को ऐसा मालूम हुआ कि जानवरों का एक झुण्ड खेत में आया है। शायद नीलगायों का झुण्ड था। उनके कूदने-दौड़ने की आवाजें साफ कान में आ रही थी। फिर ऐसा मालूम हुआ कि खेत में चर रहीं है। उनके चबाने की आवाज चर-चर सुनाई देने लगी।

उसने दिल में कहा-नहीं, जबरा के होते कोई जानवर खेत में नहीं आ सकता। नोच ही डाले। मुझे भ्रम हो रहा है। कहाँ! अब तो कुछ नहीं सुनाई देता। मुझे भी कैसा धोखा हुआ!

उसने जोर से आवाज लगायी-जबरा, जबरा।

जबरा भूँकता रहा। उसके पास न आया।

फिर खेत के चरे जाने की आहट मिली। अब वह अपने को धोखा न दे सका। उसे अपनी जगह से हिलना जहर लग रहा था। कैसा दँदाया हुआ बैठा था। इस जाड़े-पाले में खेत में जाना, जानवरों के पीछे दौड़ना असह्य जान पड़ा। वह अपनी जगह से न हिला।

उसने जोर से आवाज लगायी-हिलो! हिलो! हिलो!

जबरा फिर भूँक उठा। जानवर खेत चर रहे थें। फसल तैयार हैं। कैसी अच्छी खेती थी, पर ये दुष्ट जानवर उसका सर्वनाश किए डालते है।

हल्कू पक्का इरादा करके उठा और दो-तीन कदम चला, पर एकाएक हवा कस

ऐसा ठंडा, चुभने वाला, बिच्छू के डंक का-सा झोंका लगा कि वह फिर बुझते हुए अलाव के पास आ बैठा और राख को कुरेदकर अपनी ठंडी देह को गर्माने लगा।

जबरा अपना गला फाड़ डालता था, नील गाये खेत का सफाया किए डालती थीं और हल्कू गर्म राख के पास शांत बैठा हुआ था। अकर्मण्यता ने रस्सियों की भॉति उसे चारों तरफ से जकड़ रखा था।

उसी राख के पस गर्म जमीन परद वही चादर ओढ़ कर सो गया।

सबेरे जब उसकी नींद खुली, तब चारों तरफ धूप फैली गई थी और मुन्नी की रही थी-क्या आज सोते ही रहोगें ? तुम यहॉ आकर रम गए और उधर सारा खेत चौपट हो गया।

हल्कू न उठकर कहा-क्या तू खेत से होकर आ रही है ?

मुन्नी बोली-हॉ, सारे खेत कासत्यनाश हो गया। भला, ऐसा भी कोई सोता है। तुम्हारे यहॉ मँड़ैया डालने से क्या हुआ ?

हल्कू ने बहाना किया-मैं मरते-मरते बचा, तुझे अपने खेत की पड़ी हैं। पेट में ऐसा दरद हुआ, ऐसा दरद हुआ कि मै नहीं जानता हूँ !

दोनों फिर खेत के डॉड पर आयें। देखा सारा खेत रौदां पड़ा हुआ है और जबरा मॅड़ैया के नीचे चित लेटा है, मानो प्राण ही न हों। दोनों खेत की दशा देख रहे थें। मुन्नी के मुख पर उदासी छायी थी, पर हल्कू प्रसन्न था।

मुन्नी ने चिंतित होकर कहा-अब मजूरी करके मालगुजारी भरनी पड़ेगी।

हल्कू ने प्रसन्न मुख से कहा-रात को ठंड में यहॉ सोना तो न पड़ेगा।

***

प्रेमचंद

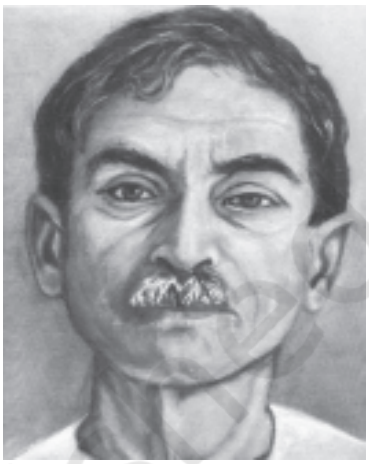

(सन् 1880-1936)

प्रेमचंद का जन्म वाराणसी ज़िले के लमही ग्राम में हुआ था। उनका मूल नाम धनपतराय था। प्रेमचंद की प्रारंभिक शिक्षा वाराणसी में हुई। मैट्रिक के बाद वे अध्यापन करने लगे। स्वाध्याय के रूप में ही उन्होंने बी.ए. तक शिक्षा ग्रहण की। असहयोग आंदोलन के दौरान उन्होंने सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और पूरी तरह लेखन-कार्य के प्रति समर्पित हो गए।

प्रेमचंद ने अपने लेखन की शुरुआत पहले उर्दू में नवाबराय के नाम से की, बाद में हिंदी में लिखने लगे। उन्होंने अपने साहित्य में किसानों, दलितों, नारियों की वेदना और वर्ण-व्यवस्था की कुरीतियों का मार्मिक चित्रण किया है। वे साहित्य को स्वांतः सुखाय न मानकर सामाजिक परिवर्तन का एक सशक्त माध्यम मानते थे। वे एक ऐसे साहित्यकार थे, जो समाज की वास्तविक स्थिति को पैनी दृष्टि से देखने की शक्ति रखते थे। उन्होंने समाज-सुधार और राष्ट्रीय-भावना से ओतप्रोत अनेक उपन्यासों एवं कहानियों की रचना की। कथा-संगठन, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन आदि की दृष्टि से उनकी रचनाएँ बेजोड़ हैं। उनकी भाषा बहुत सजीव, मुहावरेदार और बोलचाल के निकट है। हिंदी भाषा को लोकप्रिय बनाने में उनका विशेष योगदान है। संस्कृत के प्रचलित शब्दों के साथ-साथ उर्दू की रवानी इसकी विशेषता है, जिसने हिंदी कथा भाषा को नया आयाम दिया।

उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं – ***मानसरोवर*** *(आठ भाग),* ***गुप्तधन*** *(दो भाग) (कहानी संग्रह);* ***निर्मला, सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि, गबन, गोदान*** *(उपन्यास);* ***कर्बला, संग्राम, प्रेम की वेदी*** *(नाटक);* ***विविध प्रसंग*** *(तीन खंडों में, साहित्यिक और राजनीतिक निबंधों का संग्रह);* ***कुछ विचार***

© NCERT not to be republished

(साहित्यिक निबंध)। उन्होंने ***माधुरी, हंस, मर्यादा, जागरण*** *आदि पत्रिकाओं का संपादन भी किया। इस पाठ्यपुस्तक में उनकी* ***ईदगाह*** *कहानी दी गई है।*

हिंदी में बाल-मनोविज्ञान से संबंधित कहानियाँ बहुत कम लिखी गई हैं। प्रेमचंद उन दुर्लभ कथाकारों में से हैं जिन्होंने पूरी प्रामाणिकता एवं तन्मयता के साथ बाल-जीवन को अपनी कहानियों में जगह दी है। उनकी कहानियाँ भारत की साझी संस्कृति एवं ग्रामीण जीवन के विविध रंगों से सराबोर हैं।

ईदगाह *प्रेमचंद की इन्हीं विशेषताओं को अभिव्यक्त करने वाली प्रतिनिधि कहानी है। इस कहानी में* ***ईद*** *जैसे महत्त्वपूर्ण त्योहार को आधार बनाकर ग्रामीण मुस्लिम जीवन का सुंदर चित्र प्रस्तुत किया गया है। हामिद का चरित्र हमें बताता है कि अभाव उम्र से पहले बच्चों में कैसे बड़ों जैसी समझदारी पैदा कर देता है। मेले में हामिद अपनी हर चाह पर संयम रखने में विजयी होता है। साथ ही रुस्तमे हिंद चिमटे के माध्यम से प्रेमचंद ने श्रम के सौंदर्य एवं महत्त्व को भी उद्घाटित किया है। चित्रात्मक भाषा की दृष्टि से भी यह कहानी अनूठी है।*

© NCERT not to be republished

11069CH01

ईदगाह

रमज़ान के पूरे तीस रोज़ों के बाद ईद आई है। कितना मनोहर, कितना सुहावना प्रभात है। वृक्षों पर कुछ अजीब हरियाली है, खेतों में कुछ अजीब रौनक है, आसमान पर कुछ अजीब लालिमा है। आज का सूर्य देखो, कितना प्यारा, कितना शीतल है मानो संसार को ईद की बधाई दे रहा है। गाँव में कितनी हलचल है। ईदगाह जाने की तैयारियाँ हो रही हैं। किसी के कुरते में बटन नहीं है, पड़ोस के घर से सुई-तागा लेने दौड़ा जा रहा है। किसी के जूते कड़े हो गए हैं, उनमें तेल डालने के लिए तेली के घर भागा जाता है। जल्दी-जल्दी बैलों को सानी-पानी दे दें। ईदगाह से लौटते-लौटते दोपहर हो जाएगा। तीन कोस का पैदल रास्ता, फिर सैकड़ों आदमियों से मिलना-भेंटना, दोपहर के पहले लौटना असंभव है। लड़के सबसे ज़्यादा प्रसन्न हैं। किसी ने एक रोज़ा रखा है, वह भी दोपहर तक, किसी ने वह भी नहीं; लेकिन ईदगाह जाने की खुशी उनके हिस्से की चीज़ है। रोज़े बड़े-बूढ़ों के लिए होंगे। इनके लिए तो ईद है। रोज़ ईद का नाम रटते थे आज वह आ गई। अब जल्दी पड़ी है कि लोग ईदगाह क्यों नहीं चलते। इन्हें गृहस्थी की चिंताओं से क्या प्रयोजन! सेवैयों के लिए दूध और शक्कर घर में है या नहीं, इनकी बला से, ये तो सेवैयाँ खाएँगे। वह क्या जानें कि अब्बाजान क्यों बदहवास चौधरी कायमअली के घर दौड़े जा रहे हैं। उन्हें क्या खबर कि चौधरी आज आँखें बदल लें, तो यह सारी ईद मुहर्रम हो जाए। उनकी अपनी जेबों में तो कुबेर का धन भरा हुआ है। बार-बार जेब से अपना खज़ाना निकालकर गिनते हैं और खुश

© NCERT not to be republished

होकर फिर रख लेते हैं। महमूद गिनता है, एक-दो, दस-बारह! उसके पास बारह पैसे हैं। मोहसिन के पास एक, दो, तीन, आठ, नौ, पंद्रह पैसे हैं। इन्हीं अनगिनती पैसों में अनगिनती चीज़ें लाएँगे – खिलौने, मिठाइयाँ, बिगुल, गेंद और जाने क्या-क्या! और सबसे ज़्यादा प्रसन्न है हामिद। वह चार-पाँच साल का गरीब-सूरत, दुबला-पतला लड़का, जिसका बाप गत वर्ष हैज़े की भेंट हो गया और माँ न जाने क्यों पीली होती-होती एक दिन मर गई। किसी को पता न चला, क्या बीमारी है। कहती तो कौन सुनने वाला था। दिल पर जो कुछ बीतती थी, वह दिल में ही सहती थी और जब न सहा गया तो संसार से बिदा हो गई। अब हामिद अपनी बूढ़ी दादी अमीना की गोद में सोता है और उतना ही प्रसन्न है। उसके अब्बाजान रुपये कमाने गए हैं। बहुत-सी थैलियाँ लेकर आएँगे। अम्मीजान अल्लाह मियाँ के घर से उसके लिए बड़ी अच्छी-अच्छी चीज़ें लाने गई हैं; इसलिए हामिद प्रसन्न है। आशा तो बड़ी चीज़ है, और फिर बच्चों की आशा! उनकी कल्पना तो राई का पर्वत बना लेती है। हामिद के पाँव में जूते नहीं हैं, सिर पर एक पुरानी-धुरानी टोपी है, जिसका गोटा काला पड़ गया है, फिर भी वह प्रसन्न है। जब उसके अब्बाजान थैलियाँ और अम्मीजान नियामतें लेकर आएँगी, तो वह दिल के अरमान निकाल लेगा। तब देखेगा महमूद, मोहसिन, नूरे और सम्मी कहाँ से उतने पैसे निकालेंगे। अभागिन अमीना अपनी कोठरी में बैठी रो रही है। आज ईद का दिन और उसके घर में दाना नहीं! आज आबिद होता तो क्या इसी तरह ईद आती और चली जाती! इस अंधकार और निराशा में वह डूबी जा रही है। किसने बुलाया था इस निगोड़ी ईद को? इस घर में उसका काम नहीं; लेकिन हामिद! उसे किसी के मरने-जीने से क्या मतलब? उसके अंदर प्रकाश है, बाहर आशा। विपत्ति अपना सारा दलबल लेकर आए, हामिद की आनंद भरी चितवन उसका विध्वंस कर देगी।

हामिद भीतर जाकर दादी से कहता है – तुम डरना नहीं अम्माँ, मैं सबसे पहले आऊँगा। बिलकुल न डरना।

अमीना का दिल कचोट रहा है। गाँव के बच्चे अपने-अपने बाप के साथ जा रहे हैं। हामिद का बाप अमीना के सिवा और कौन है! उसे कैसे अकेले मेले जाने

© NCERT not to be republished

दे? उस भीड़-भाड़ में बच्चा कहीं खो जाए तो क्या हो? नहीं, अमीना उसे यों न जाने देगी। नन्हीं-सी जान! तीन कोस चलेगा कैसे! पैर में छाले पड़ जाएँगे। जूते भी तो नहीं हैं। वह थोड़ी-थोड़ी दूर पर उसे गोद ले लेगी; लेकिन यहाँ सेवैयाँ कौन पकाएगा? पैसे होते तो लौटते-लौटते सब सामग्री जमा करके चटपट बना लेती। यहाँ तो घंटों चीज़ें जमा करते लगेंगे। माँगे ही का तो भरोसा ठहरा। उस दिन फ़हीमन के कपड़े सिले थे। आठ आने पैसे मिले थे। उस अठन्नी को ईमान की तरह बचाती चली आती थी इसी ईद के लिए, लेकिन कल ग्वालन सिर पर सवार हो गई तो क्या करती! हामिद के लिए कुछ नहीं है, तो दो पैसे का दूध तो चाहिए ही। अब तो कुल दो आने पैसे बच रहे हैं। तीन पैसे हामिद की जेब में, पाँच अमीना के बटुवे में। यही तो बिसात है और ईद का त्योहार, अल्लाह ही बेड़ा पार लगाए। धोबन और नाइन और मेहतरानी और चूड़िहारिन सभी तो आएँगी। सभी को सेवैयाँ चाहिए और थोड़ा किसी की आँखों नहीं लगता। किस-किस से मुँह चुराएगी। और मुँह क्यों चुराए? साल-भर का त्योहार है। ज़िंदगी खैरियत से रहे, उनकी तकदीर भी तो उसी के साथ है। बच्चे को खुदा सलामत रखे, दिन भी कट जाएँगे।

गाँव से मेला चला। और बच्चों के साथ हामिद भी जा रहा था। कभी सब-के-सब दौड़कर आगे निकल जाते। फिर किसी पेड़ के नीचे खड़े होकर साथवालों का इंतज़ार करते। यह लोग क्यों इतना धीरे-धीरे चल रहे हैं! हामिद के पैरों में तो जैसे पर लग गए हैं। वह कभी थक सकता है! शहर का दामन आ गया। सड़क के दोनों ओर अमीरों के बगीचे हैं। पक्की चारदीवारी बनी हुई है। पेड़ों में आम और लीचियाँ लगी हुई हैं। कभी-कभी कोई लड़का कंकड़ी उठाकर आम पर निशाना लगाता है। माली अंदर से गाली देता हुआ निकलता है। लड़के वहाँ से एक फर्लांग पर हैं। खूब हँस रहे हैं। माली को कैसा उल्लू बनाया है।

बड़ी-बड़ी इमारतें आने लगीं। यह अदालत है, यह कालेज है, यह क्लब-घर है! इतने बड़े कालेज में कितने लड़के पढ़ते होंगे? सब लड़के नहीं हैं जी! बड़े-बड़े आदमी हैं, सच! उनकी बड़ी-बड़ी मूँछें हैं। इतने बड़े हो गए, अभी तक

© NCERT not to be republished

पढ़ने जाते हैं। न जाने कब तक पढ़ेंगे और क्या करेंगे इतना पढ़कर, हामिद के मदरसे में दो-तीन बड़े-बड़े लड़के हैं, बिलकुल तीन कौड़ी के। रोज़ मार खाते हैं, काम से जी चुराने वाले। इस जगह भी उसी तरह के लोग होंगे और क्या। क्लब-घर में जादू होता है। सुना है, यहाँ मुर्दे की खोपड़ियाँ दौड़ती हैं। और बड़े-बड़े तमाशे होते हैं, पर किसी को अंदर नहीं जाने देते। और यहाँ शाम को साहब लोग खेलते हैं। बड़े-बड़े आदमी खेलते हैं, मूँछों-दाढ़ीवाले। और मेमें भी खेलती हैं, सच! हमारी अम्माँ को वह दे दो, क्या नाम है, बैट, तो उसे पकड़ ही न सकें। घुमाते ही लुढ़क जाएँ।

महमूद ने कहा – हमारी अम्मीजान का तो हाथ काँपने लगे, अल्ला कसम।

मोहसिन बोला – चलो, मनों आटा पीस डालती हैं। ज़रा-सा बैट पकड़ लेंगी, तो हाथ काँपने लगेंगे? सैकड़ों घड़े पानी रोज़ निकालती हैं। पाँच घड़े तो तेरी भैंस पी जाती है। किसी मेम को एक घड़ा पानी भरना पड़े तो आँखों तले अँधेरा आ जाए।

महमूद – लेकिन दौड़तीं तो नहीं, उछल-कूद तो नहीं सकतीं।

मोहसिन – हाँ, उछल-कूद नहीं सकतीं, लेकिन उस दिन मेरी गाय खुल गई थी और चौधरी के खेत में जा पड़ी थी, तो अम्माँ इतना तेज़ दौड़ीं कि मैं उन्हें न पा सका, सच।

आगे चले। हलवाइयों की दूकानें शुरू हुईं। आज खूब सजी हुई थीं। इतनी मिठाइयाँ कौन खाता है? देखो न, एक-एक दूकान पर मनों होंगी। सुना है, रात को जिन्नात आकर खरीद ले जाते हैं। अब्बा कहते थे कि आधी रात को एक आदमी हर दूकान पर जाता है और जितना माल बचा होता है, वह तुलवा लेता है और सचमुच के रुपये देता है, बिलकुल ऐसे ही रुपये।

हामिद को यकीन न आया – ऐसे रुपये जिन्नात को कहाँ से मिल जाएँगे?

मोहसिन ने कहा – जिन्नात को रुपये की क्या कमी? जिस खजाने में चाहें चले जाएँ। लोहे के दरवाज़े तक उन्हें नहीं रोक सकते जनाब, आप हैं किस फेर में! हीरे जवाहरात तक उनके पास रहते हैं। जिससे खुश हो गए उसे टोकरों जवाहरात दे दिए। अभी यहीं बैठे हैं, पाँच मिनट में कलकत्ता पहुँच जाएँ।

हामिद ने फिर पूछा – जिन्नात बहुत बड़े-बड़े होते होंगे?

मोहसिन – एक-एक आसमान के बराबर होता है जी। ज़मीन पर खड़ा हो जाए तो उसका सिर आसमान से जा लगे, मगर चाहे तो एक लोटे में घुस जाए।

हामिद – लोग उन्हें कैसे खुश करते होंगे। कोई मुझे वह मंतर बता दे तो एक जिन्न को खुश कर लूँ।

मोहसिन – अब यह तो मैं नहीं जानता, लेकिन चौधरी साहब के काबू में बहुत से जिन्नात हैं। कोई चीज़ चोरी जाए, चौधरी साहब उसका पता लगा देंगे और चोर का नाम भी बता देंगे। जुमराती का बछवा उस दिन खो गया था। तीन दिन हैरान हुए, कहीं न मिला। तब झक मारकर चौधरी के पास गए। चौधरी ने तुरंत बता दिया, मवेशीखाने में है और वहीं मिला। जिन्नात आकर उन्हें सारे जहान की खबरें दे जाते हैं।

अब उसकी समझ में आ गया कि चौधरी के पास क्यों इतना धन है, और क्यों उनका इतना सम्मान है।

आगे चले। यह पुलिस लाइन है। यहीं सब कानिसटिबिल कवायद करते हैं। रैटन! फ़ाय फो! रात को बेचारे घूम-घूमकर पहरा देते हैं, नहीं चोरियाँ हो जाएँ।

मोहसिन ने प्रतिवाद किया – यह कानिसटिबिल पहरा देते हैं! तभी तुम बहुत जानते हो। अजी हज़रत, यही चोरी कराते हैं। शहर के जितने चोर-डाकू हैं, सब इनसे मिले रहते हैं। रात को ये लोग चोरों से तो कहते हैं, चोरी करो और आप दूसरे मुहल्ले में जाकर 'जागते रहो! जागते रहो!' पुकारते हैं। जभी इन लोगों के पास इतने रुपये आते हैं। मेरे मामूँ एक थाने में कानिसटिबिल हैं। बीस रुपया महीना पाते हैं; लेकिन पचास रुपये घर भेजते हैं। अल्ला कसम! मैंने एक बार पूछा था कि मामूँ, आप इतने रुपये कहाँ से पाते हैं? हँसकर कहने लगे – बेटा, अल्लाह देता है। फिर आप ही बोले – हम लोग चाहें तो एक दिन में लाखों मार लाएँ। हम तो इतना ही लेते हैं, जिसमें अपनी बदनामी न हो और नौकरी न चली जाए।

हामिद ने पूछा – यह लोग चोरी करवाते हैं, तो कोई इन्हें पकड़ता नहीं?

मोहसिन उसकी नादानी पर दया दिखाकर बोला – अरे पागल, इन्हें कौन पकड़ेगा? पकड़ने वाले तो यह लोग खुद हैं; लेकिन अल्लाह इन्हें सज़ा भी खूब देता है। हराम का माल हराम में जाता है। थोड़े ही दिन हुए मामूँ के घर में आग लग गई।

© NCERT not to be republished

सारी लेई पूँजी जल गई। एक बरतन तक न बचा। कई दिन पेड़ के नीचे सोए, अल्ला कसम, पेड़ के नीचे! फिर न जाने कहाँ से एक सौ कर्ज़ लाए तो बरतन-भाँड़े आए।

हामिद – एक सौ तो पचास से ज़्यादा होते हैं?

'कहाँ पचास, कहाँ एक सौ। पचास एक थैली भर होता है। सौ तो दो थैलियों में भी न आए।'

अब बस्ती घनी होने लगी। ईदगाह जानेवालों की टोलियाँ नज़र आने लगीं। एक से एक भड़कीले वस्त्र पहने हुए। कोई इक्के-ताँगे पर सवार, कोई मोटर पर, सभी इत्र में बसे, सभी के दिलों में उमंग। ग्रामीणों का यह छोटा-सा दल, अपनी विपन्नता से बेखबर, संतोष और धैर्य में मगन चला जा रहा था। बच्चों के लिए नगर की सभी चीज़ें अनोखी थीं। जिस चीज़ की ओर ताकते, ताकते ही रह जाते और पीछे से बराबर हार्न की आवाज़ होने पर भी न चेतते। हामिद तो मोटर के नीचे जाते-जाते बचा।

सहसा ईदगाह नज़र आया। ऊपर इमली के घने वृक्षों की छाया है। नीचे पक्का फ़र्श है, जिस पर जाजिम बिछा हुआ है। और रोज़ेदारों की पंक्तियाँ एक के पीछे एक न जाने कहाँ तक चली गई हैं, पक्की जगत के नीचे तक, जहाँ जाजिम भी नहीं है। नए आनेवाले आकर पीछे की कतार में खड़े हो जाते हैं। आगे जगह नहीं है। यहाँ कोई धन और पद नहीं देखता। इस्लाम की निगाह में सब बराबर हैं। इन ग्रामीणों ने भी वजू किया और पिछली पंक्ति में खड़े हो गए। कितना सुंदर संचालन है, कितनी सुंदर व्यवस्था! लाखों सिर एक साथ सिजदे में झुक जाते हैं, फिर सब-के-सब एक साथ खड़े हो जाते हैं, एक साथ झुकते हैं, और एक साथ घुटनों के बल बैठ जाते हैं। कई बार यही क्रिया होती है, जैसे बिजली की लाखों बत्तियाँ एक साथ प्रदीप्त हों और एक साथ बुझ जाएँ और यही क्रम चलता रहे। कितना अपूर्व दृश्य था, जिसकी सामूहिक क्रियाएँ, विस्तार और अनंतता हृदय को श्रद्धा, गर्व और आत्मानंद से भर देती थीं, मानो भ्रातृत्व का एक सूत्र इन समस्त आत्माओं को एक लड़ी में पिरोए हुए है।

© NCERT not to be republished

नमाज़ खत्म हो गई है। लोग आपस में गले मिल रहे हैं। तब मिठाई और खिलौने की दूकानों पर धावा होता है। ग्रामीणों का यह दल इस विषय में बालकों से कम उत्साही नहीं है। यह देखो, हिंडोला है। एक पैसा देकर चढ़ जाओ। कभी आसमान पर जाते हुए मालूम होंगे, कभी ज़मीन पर गिरते हुए। यह चर्खी है, लकड़ी के हाथी, घोड़े, ऊँट छड़ों से लटके हुए हैं। एक पैसा देकर बैठ जाओ और पच्चीस चक्करों का मज़ा लो। महमूद और मोहसिन और नूरे और सम्मी इन घोड़ों और ऊँटों पर बैठते हैं। हामिद दूर खड़ा है। तीन ही पैसे तो उसके पास हैं। अपने कोष का एक तिहाई ज़रा-सा चक्कर खाने के लिए नहीं दे सकता।

सब चर्खियों से उतरते हैं। अब खिलौने लेंगे। इधर दूकानों की कतार लगी हुई है। तरह-तरह के खिलौने हैं – सिपाही और गुजरिया, राजा और वकील, भिश्ती और धोबिन और साधु। वाह! कितने सुंदर खिलौने हैं। अब बोला ही चाहते हैं। महमूद सिपाही लेता है, खाकी वर्दी और लाल पगड़ीवाला, कंधे पर बंदूक रखे हुए; मालूम होता है अभी कवायद किए चला आ रहा है। मोहसिन को भिश्ती पसंद आया। कमर झुकी हुई है, ऊपर मशक रखे हुए है। मशक का मुँह एक हाथ से पकड़े हुए है। कितना प्रसन्न है। शायद कोई गीत गा रहा है। बस, मशक से पानी उड़ेला ही चाहता है। नूरे को वकील से प्रेम है। कैसी विद्वत्ता है उसके मुख पर! काला चोगा, नीचे सफ़ेद अचकन, अचकन के सामने की जेब में घड़ी, सुनहरी ज़ंजीर, एक हाथ में कानून का पोथा लिए हुए। मालूम होता है, अभी किसी अदालत से जिरह या बहस किए चले आ रहे हैं। यह सब दो-दो पैसे के खिलौने हैं। हामिद के पास कुल तीन पैसे हैं, इतने महँगे खिलौने वह कैसे ले? खिलौना कहीं हाथ से छूट पड़े, तो चूर-चूर हो जाए, ज़रा पानी पड़े तो सारा रंग धुल जाए, ऐसे खिलौने लेकर वह क्या करेगा, किस काम के?

मोहसिन कहता है – मेरा भिश्ती रोज़ पानी दे जाएगा, साँझ-सबेरे।

© NCERT not to be republished

महमूद – और मेरा सिपाही घर का पहरा देगा। कोई चोर आएगा, तो फ़ौरन बंदूक फ़ैर कर देगा।

नूरे – और मेरा वकील खूब मुकदमा लड़ेगा।

सम्मी – और मेरी धोबिन रोज़ कपड़े धोएगी।

हामिद खिलौनों की निंदा करता है – मिट्टी ही के तो हैं, गिरे तो चकनाचूर हो जाएँ; लेकिन ललचाई हुई आँखों से खिलौनों को देख रहा है। और चाहता है कि ज़रा देर के लिए उन्हें हाथ में ले सकता। उसके हाथ अनायास ही लपकते हैं; लेकिन लड़के इतने त्यागी नहीं होते हैं, विशेषकर जब अभी नया शौक है। हामिद ललचाता रह जाता है।

खिलौने के बाद मिठाइयाँ आती हैं। किसी ने रेवड़ियाँ ली हैं, किसी ने गुलाब-जामुन, किसी ने सोहन हलवा। मज़े से खा रहे हैं। हामिद बिरादरी से पृथक है। अभागे के पास तीन पैसे हैं। क्यों नहीं कुछ लेकर खाता? ललचाई आँखों से सबकी ओर देखता है।

मोहसिन कहता है – हामिद, रेवड़ी ले जा, कितनी खुशबूदार है!

हामिद को संदेह हुआ, यह केवल क्रूर विनोद है, मोहसिन इतना उदार नहीं है; लेकिन यह जानकर भी वह उसके पास जाता है। मोहसिन दोने से एक रेवड़ी निकालकर हामिद की ओर बढ़ाता है। हामिद हाथ फैलाता है। मोहसिन रेवड़ी अपने मुँह में रख लेता है। महमूद, नूरे और सम्मी खूब तालियाँ बजा-बजाकर हँसते हैं। हामिद खिसिया जाता है।

मोहसिन – अच्छा, अबकी ज़रूर देंगे हामिद, अल्ला कसम, ले जा।

हामिद – रखे रहो। क्या मेरे पास पैसे नहीं हैं?

सम्मी – तीन ही पैसे तो हैं। तीन पैसे में क्या-क्या लोगे?

महमूद – हमसे गुलाब-जामुन ले जाव हामिद। मोहसिन बदमाश है।

हामिद – मिठाई कौन बड़ी नेमत है। किताब में इसकी कितनी बुराइयाँ लिखी हैं।

मोहसिन – लेकिन दिल में कह रहे होंगे कि मिले तो खा लें। अपने पैसे क्यों नहीं निकालते?

© NCERT not to be republished

महमूद – हम समझते हैं, इसकी चालाकी। जब हमारे सारे पैसे खर्च हो जाएँगे, तो हमें ललचा-ललचाकर खाएगा।

मिठाइयों के बाद कुछ दूकानें लोहे की चीज़ों की, कुछ गिलट और कुछ नकली गहनों की। लड़कों के लिए यहाँ कोई आकर्षण न था। वे सब आगे बढ़ जाते हैं। हामिद लोहे की दूकान पर रुक जाता है। कई चिमटे रखे हुए थे। उसे खयाल आया, दादी के पास चिमटा नहीं है। तवे से रोटियाँ उतारती हैं, तो हाथ जल जाता है; अगर वह चिमटा ले जाकर दादी को दे दे, तो वह कितनी प्रसन्न होंगी! फिर उनकी उँगलियाँ कभी न जलेंगी। घर में एक काम की चीज़ हो जाएगी। खिलौने से क्या फ़ायदा। व्यर्थ में पैसे खराब होते हैं। ज़रा देर ही तो खुशी होती है। फिर तो खिलौने को कोई आँख उठाकर नहीं देखता। या तो घर पहुँचते-पहुँचते टूट-फूटकर बराबर हो जाएँगे। चिमटा कितने काम की चीज़ है। रोटियाँ तवे से उतार लो, चूल्हे में सेंक लो। कोई आग माँगने आए तो चटपट चूल्हे से आग निकालकर उसे दे दो। अम्माँ बेचारी को कहाँ फ़ुरसत है कि बाज़ार आएँ और इतने पैसे ही कहाँ मिलते हैं। रोज़ हाथ जला लेती हैं। हामिद के साथी आगे बढ़ गए हैं। सबील पर सब-के-सब शरबत पी रहे हैं। देखो, सब कितने लालची हैं! इतनी मिठाइयाँ लीं, मुझे किसी ने एक भी न दी। उस पर कहते हैं, मेरे साथ खेलो। मेरा यह काम करो। अब अगर किसी ने कोई काम करने को कहा, तो पूछूँगा। खाएँ मिठाइयाँ, आप मुँह सड़ेगा, फोड़े फुंसियाँ निकलेंगी, आप ही ज़बान चटोरी हो जाएगी। तब घर से पैसे चुराएँगे और मार खाएँगे। किताब में झूठी बातें थोड़े ही लिखी हैं। मेरी ज़बान क्यों खराब होगी। अम्माँ चिमटा देखते ही दौड़कर मेरे हाथ से ले लेंगी और कहेंगी – मेरा बच्चा अम्माँ के लिए चिमटा लाया है। हज़ारों दुआएँ देंगी। फिर पड़ोस की औरतों को दिखाएँगी। सारे गाँव में चर्चा होने लगेगी, हामिद चिमटा लाया है। कितना अच्छा लड़का है। इन लोगों के खिलौनों पर कौन इन्हें दुआएँ देगा? बड़ों की दुआएँ सीधे अल्लाह के दरबार में पहुँचती हैं और तुरंत सुनी जाती हैं। मेरे पास पैसे नहीं हैं। तभी तो मोहसिन और महमूद यों मिज़ाज दिखाते हैं। मैं भी इनसे मिज़ाज दिखाऊँगा। खेलें खिलौने और

© NCERT not to be republished

खाएँ मिठाइयाँ। मैं नहीं खेलता खिलौने, किसी का मिज़ाज क्यों सहूँ। मैं गरीब सही, किसी से कुछ माँगने तो नहीं जाता। आखिर अब्बाजान कभी-न-कभी आएँगे। अम्माँ भी आएँगी ही। फिर इन लोगों से पूछूँगा, कितने खिलौने लोगे? एक-एक को टोकरियों खिलौने दूँ और दिखा दूँ कि दोस्तों के साथ इस तरह सलूक किया जाता है। यह नहीं कि एक पैसे की रेवड़ियाँ लीं तो चिढ़ा-चिढ़ाकर खाने लगे। सब-के-सब हँसेंगे कि हामिद ने चिमटा लिया है। हँसें! मेरी बला से! उसने दूकानदार से पूछा – यह चिमटा कितने का है?

दूकानदार ने उसकी ओर देखा और कोई आदमी साथ न देखकर कहा – तुम्हारे काम का नहीं है जी!

'बिकाऊ है कि नहीं?'

'बिकाऊ क्यों नहीं है। और यहाँ क्यों लाद लाए हैं?'

'तो बताते क्यों नहीं, कै पैसे का है?'

'छह पैसे लगेंगे।'

हामिद का दिल बैठ गया।

'ठीक-ठीक बताओ!'

'ठीक-ठीक पाँच पैसे लगेंगे, लेना हो लो, नहीं चलते बनो।'

हामिद ने कलेजा मज़बूत करके कहा – तीन पैसे लोगे?

यह कहता हुआ वह आगे बढ़ गया कि दूकानदार की घुड़कियाँ न सुने। लेकिन दूकानदार ने घुड़कियाँ नहीं दीं। बुलाकर चिमटा दे दिया। हामिद ने उसे इस तरह कंधे पर रखा, मानो बंदूक है और शान से अकड़ता हुआ संगियों के पास आया। ज़रा सुनें, सब-के-सब क्या-क्या आलोचनाएँ करते हैं।

मोहसिन ने हँसकर कहा – यह चिमटा क्यों लाया पगले; इसे क्या करेगा?

हामिद ने चिमटे को ज़मीन पर पटककर कहा – ज़रा अपना भिश्ती ज़मीन पर गिरा दो। सारी पसलियाँ चूर-चूर हो जाएँ बचा की।

महमूद बोला – तो यह चिमटा कोई खिलौना है?

© NCERT not to be republished

हामिद – खिलौना क्यों नहीं है? अभी कंधे पर रखा, बंदूक हो गई। हाथ में ले लिया, फकीरों का चिमटा हो गया, चाहूँ तो इससे मजीरे का काम ले सकता हूँ। एक चिमटा जमा दूँ, तो तुम लोगों के सारे खिलौनों की जान निकल जाए।

तुम्हारे खिलौने कितना ही ज़ोर लगाएँ, मेरे चिमटे का बाल भी बाँका नहीं कर सकते। मेरा बहादुर शेर है – चिमटा।

सम्मी ने खँजरी ली थी। प्रभावित होकर बोला – मेरी खँजरी से बदलोगे? दो आने की है।

हामिद ने खँजरी की ओर उपेक्षा से देखा – मेरा चिमटा चाहे तो तुम्हारे खँजरी का पेट फाड़ डाले। बस एक चमड़े की झिल्ली लगा दी, ढब-ढब बोलने लगी। ज़रा-सा पानी लग जाए तो खतम हो जाए। मेरा बहादुर चिमटा आग में, पानी में, आँधी में, तूफ़ान में बराबर डटा खड़ा रहेगा।

चिमटे ने सभी को मोहित कर लिया, लेकिन अब पैसे किसके पास धरे हैं। फिर मेले से दूर निकल आए हैं, नौ कब के बज गए, धूप तेज़ हो रही है। घर पहुँचने की जल्दी हो रही है। बाप से ज़िद भी करें, तो चिमटा नहीं मिल सकता। हामिद है बड़ा चालाक। इसीलिए बदमाश ने अपने पैसे बचा रखे थे।

अब बालकों के दो दल हो गए हैं। मोहसिन, महमूद, सम्मी और नूरे एक तरफ़ हैं, हामिद अकेला दूसरी तरफ़। शास्त्रार्थ हो रहा है। सम्मी तो विधर्मी हो गया। दूसरे पक्ष से जा मिला; लेकिन मोहसिन, महमूद और नूरे भी, हामिद से एक-एक, दो-दो साल बड़े होने पर भी हामिद के आघातों से आतंकित हो उठे हैं। उसके पास न्याय का बल है और नीति की शक्ति। एक ओर मिट्टी है, दूसरी ओर लोहा, जो इस वक्त अपने को फ़ौलाद कह रहा है। वह अजेय है, घातक है। अगर कोई शेर आ जाए, तो मियाँ भिश्ती के छक्के छूट जाएँ, मियाँ सिपाही मिट्टी की बंदूक छोड़कर भागें, वकील साहब की नानी मर जाए, चोगे में मुँह छिपाकर ज़मीन पर लेट जाएँ। मगर यह चिमटा, यह बहादुर, यह रुस्तमे-हिंद लपककर शेर की गरदन पर सवार हो जाएगा और उसकी आँखें निकाल लेगा।

© NCERT not to be republished

मोहसिन ने एड़ी-चोटी का ज़ोर लगाकर कहा – अच्छा, पानी तो नहीं भर सकता।

हामिद ने चिमटे को सीधा खड़ा करके कहा – भिश्ती को एक डाँट बताएगा तो दौड़ा हुआ पानी लाकर उसके द्वार पर छिड़कने लगेगा।

मोहसिन परास्त हो गया; पर महमूद ने कुमुक पहुँचाई – अगर बचा पकड़ जाएँ तो अदालत में बँधे-बँधे फिरेंगे। तब तो वकील साहब के पैरों पड़ेंगे।

हामिद इस प्रबल तर्क का जवाब न दे सका। उसने पूछा – हमें पकड़ने कौन आएगा?

नूरे ने अकड़कर कहा – यह सिपाही बंदूकवाला।

हामिद ने मुँह चिढ़ाकर कहा – यह बेचारे हम बहादुर रुस्तमे-हिंद को पकड़ेंगे! अच्छा लाओ, अभी ज़रा कुश्ती हो जाए। इसकी सूरत देखकर दूर से भागेंगे। पकड़ेंगे क्या बेचारे!

मोहसिन को एक नई चोट सूझ गई – तुम्हारे चिमटे का मुँह रोज़ आग में जलेगा।

उसने समझा था कि हामिद लाजवाब हो जाएगा; लेकिन यह बात न हुई।

हामिद ने तुरंत जवाब दिया – आग में बहादुर ही कूदते हैं जनाब, तुम्हारे यह वकील, सिपाही और भिश्ती लेडियों की तरह घर में घुस जाएँगे। आग में कूदना वह काम है, जो यह रुस्तमे-हिंद ही कर सकता है।

महमूद ने एक ज़ोर लगाया – वकील साहब कुर्सी-मेज़ पर बैठेंगे, तुम्हारा चिमटा तो बावर्चीखाने में ज़मीन पर पड़ा रहेगा।

इस तर्क ने सम्मी और नूरे को भी सजीव कर दिया। कितने ठिकाने की बात कही है पट्ठे ने। चिमटा बावर्चीखाने में पड़ा रहने के सिवा और क्या कर सकता है?

हामिद को कोई फड़कता हुआ जवाब न सूझा तो उसने धाँधली शुरू की – मेरा चिमटा बाबर्चीखाने में नहीं रहेगा। वकील साहब कुर्सी पर बैठेंगे, तो जाकर उन्हें ज़मीन पर पटक देगा और उनका कानून उनके पेट में डाल देगा।

बात कुछ बनी नहीं। खासी गाल-गलौज थी; लेकिन कानून को पेट में डालने वाली बात छा गई। ऐसी छा गई कि तीनों सूरमा मुँह ताकते रह गए, मानो कोई धेलचा

© NCERT not to be republished

कनकौआ किसी गंडेवाले कनकौए को काट गया हो। कानून मुँह से बाहर निकलने वाली चीज़ है। उसको पेट के अंदर डाल दिया जाना, बेतुकी-सी बात होने पर भी कुछ नयापन रखती है। हामिद ने मैदान मार लिया। उसका चिमटा रुस्तमे-हिंद है। अब इसमें मोहसिन, महमूद, नूरे, सम्मी किसी को भी आपत्ति नहीं हो सकती।

विजेता को हारने वालों से जो सत्कार मिलना स्वाभाविक है, वह हामिद को भी मिला। औरों ने तीन-तीन, चार-चार आने पैसे खर्च किए, पर कोई काम की चीज़ न ले सके। हामिद ने तीन पैसे में रंग जमा लिया। सच ही तो है, खिलौनों का क्या भरोसा? टूट-फूट जाएँगे। हामिद का चिमटा तो बना रहेगा बरसों!

संधि की शर्तें तय होने लगीं। मोहसिन ने कहा – ज़रा अपना चिमटा दो हम भी देखें। तुम हमारा भिश्ती लेकर देखो।

महमूद और नूरे ने भी अपने-अपने खिलौने पेश किए।

हामिद को इन शर्तों के मानने में कोई आपत्ति न थी। चिमटा बारी-बारी से सबके हाथ में गया; और उनके खिलौने बारी-बारी से हामिद के हाथ में आए। कितने खूबसूरत खिलौने हैं!

हामिद ने हारने वालों के आँसू पोंछे – मैं तुम्हें चिढ़ा रहा था, सच! यह चिमटा भला इन खिलौनों की क्या बराबरी करेगा; मालूम होता है, अब बोले, अब बोले।

लेकिन मोहसिन की पार्टी को इस दिलासे से संतोष नहीं होता। चिमटे का सिक्का खूब बैठ गया है। चिपका हुआ टिकट अब पानी से नहीं छूट रहा है।

मोहसिन – लेकिन इन खिलौनों के लिए कोई हमें दुआ तो न देगा?

महमूद – दुआ को लिए फिरते हो। उलटे मार न पड़े। अम्माँ ज़रूर कहेंगी कि मेले में यही मिट्टी के खिलौने तुम्हें मिले?

हामिद को स्वीकार करना पड़ा कि खिलौनों को देखकर किसी की माँ इतनी खुश न होगी, जितनी दादी चिमटे को देखकर होंगी। तीन पैसों ही में तो उसे सब कुछ करना था और उन पैसों के इस उपयोग पर पछतावे की बिलकुल ज़रूरत न थी। फिर अब तो चिमटा रुस्तमे-हिंद है और सभी खिलौनों का बादशाह!

© NCERT not to be republished

रास्ते में महमूद को भूख लगी। उसके बाप ने केले खाने को दिए। महमूद ने केवल हामिद को साझी बनाया। उसके अन्य मित्र मुँह ताकते रह गए। यह उस चिमटे का प्रसाद था।

3

ग्यारह बजे गाँव में हलचल मच गई। मेले वाले आ गए। मोहसिन की छोटी बहन ने दौड़कर भिश्ती उसके हाथ से छीन लिया और मारे खुशी के जो उछली, तो मियाँ भिश्ती नीचे आ रहे और सुरलोक सिधारे। इस पर भाई-बहन में मार-पीट हुई। दोनों खूब रोए। उसकी अम्माँ यह शोर सुनकर बिगड़ी और दोनों को ऊपर से दो-दो चाँटे और लगाए।

मियाँ नूरे के वकील का अंत उनके प्रतिष्ठानुकूल इससे ज़्यादा गौरवमय हुआ। वकील ज़मीन पर या ताक पर तो नहीं बैठ सकता। उसकी मर्यादा का विचार तो करना ही होगा। दीवार में दो खूटियाँ गाड़ी गईं। उन पर लकड़ी का एक पटरा रखा गया। पटरे पर कागज़ का कालीन बिछाया गया। वकील साहब राजा भोज की भाँति सिंहासन पर बिराजे। नूरे ने उन्हें पंखा झलना शुरू किया। अदालतों में खस की टट्टियाँ और बिजली के पंखे रहते हैं। क्या यहाँ मामूली पंखा भी न हो! कानून की गरमी दिमाग पर चढ़ जाएगी कि नहीं। बाँस का पंखा आया और नूरे हवा करने लगे। मालूम नहीं, पंखे की हवा से, या पंखे की चोट से वकील साहब स्वर्गलोक से मृत्युलोक में आ रहे और उनका माटी का चोला माटी में मिल गया। फिर बड़े ज़ोर-शोर से मातम हुआ और वकील साहब की अस्थि घूर पर डाल दी गई।

अब रहा महमूद का सिपाही। उसे चटपट गाँव का पहरा देने का चार्ज मिल गया; लेकिन पुलिस का सिपाही कोई साधारण व्यक्ति तो नहीं, जो अपने पैरों चले। वह पालकी पर चलेगा। एक टोकरी आई, उसमें कुछ लाल रंग के फटे-पुराने चिथड़े बिछाए गए; जिसमें सिपाही साहब आराम से लेटे। नूरे ने यह टोकरी उठाई और अपने द्वार का चक्कर लगाने लगे। उनके दोनों छोटे भाई सिपाही की तरफ़ से 'छोनेवाले, जागते लहो' पुकारते चलते हैं। मगर रात तो अँधेरी होनी चाहिए; महमूद

© NCERT not to be republished

को ठोकर लग जाती है। टोकरी उसके हाथ से छूटकर गिर पड़ती है और मियाँ सिपाही अपनी बंदूक लिए ज़मीन पर आ जाते हैं और उनकी एक टाँग में विकार आ जाता है। महमूद को आज ज्ञात हुआ कि वह अच्छा डॉक्टर है। उसको ऐसा मरहम मिल गया है जिससे वह टूटी टाँग को आनन-फानन जोड़ सकता है। केवल गूलर का दूध चाहिए। गूलर का दूध आता है। टाँग जोड़ दी जाती है लेकिन सिपाही को ज्यों ही खड़ा किया जाता है, टाँग जवाब दे देती है। शल्यक्रिया असफल हुई, तब उसकी दूसरी टाँग भी तोड़ दी जाती है। अब कम-से-कम एक जगह आराम से बैठ तो सकता है। एक टाँग से तो न चल सकता था; न बैठ सकता था। अब वह सिपाही संन्यासी हो गया है। अपनी जगह पर बैठा-बैठा पहरा देता है। कभी-कभी देवता भी बन जाता है। उसके सिर का झालरदार साफ़ा खुरच दिया गया है। अब उसका जितना रूपांतर चाहो, कर सकते हो। कभी-कभी तो उससे बाट का काम भी लिया जाता है।

अब मियाँ हामिद का हाल सुनिए। अमीना उसकी आवाज़ सुनते ही दौड़ी और उसे गोद में उठाकर प्यार करने लगी। सहसा उसके हाथ में चिमटा देखकर वह चौंकी।

'यह चिमटा कहाँ था?'

'मैंने मोल लिया है।'

'कै पैसे में?'

'तीन पैसे दिए।'

अमीना ने छाती पीट ली। यह कैसा बेसमझ लड़का है कि दोपहर हुआ, कुछ खाया न पिया। लाया क्या, चिमटा! सारे मेले में तुझे और कोई चीज़ न मिली, जो यह लोहे का चिमटा उठा लाया?

हामिद ने अपराधी-भाव से कहा – तुम्हारी उँगलियाँ तवे से जल जाती थीं; इसलिए मैंने उसे लिया।

बुढ़िया का क्रोध तुरंत स्नेह में बदल गया, और स्नेह भी वह नहीं, जो प्रगल्भ होता है और अपनी सारी कसक शब्दों में बिखेर देता है। यह मूक स्नेह था, खूब ठोस, रस और स्वाद से भरा हुआ। बच्चे में कितना त्याग, कितना सद्भाव और

© NCERT not to be republished

कितना विवेक है! दूसरों को खिलौने लेते और मिठाई खाते देखकर इसका मन कितना ललचाया होगा? इतना ज़ब्त इससे हुआ कैसे? वहाँ भी इसे अपनी बुढ़िया दादी की याद बनी रही। अमीना का मन गद्‌गद हो गया।

और अब एक बड़ी विचित्र बात हुई। हामिद के इस चिमटे से भी विचित्र। बच्चे हामिद ने बूढ़े हामिद का पार्ट खेला था। बुढ़िया अमीना बालिका अमीना बन गई। वह रोने लगी। दामन फैलाकर हामिद को दुआएँ देती जाती थी और आँसू की बड़ी-बड़ी बूँदें गिराती जाती थी। हामिद इसका रहस्य क्या समझता!

प्रश्न-अभ्यास

1. 'ईदगाह' कहानी के उन प्रसंगों का उल्लेख कीजिए जिनसे ईद के अवसर पर ग्रामीण परिवेश का उल्लास प्रकट होता है।
2. 'उसके अंदर प्रकाश है, बाहर आशा। विपत्ति अपना सारा दलबल लेकर आए, हामिद की आनंद भरी चितवन उसका विध्वंस कर देगी।' – इस कथन से लेखक का क्या आशय है?
3. 'उन्हें क्या खबर कि चौधरी आज आँखें बदल लें, तो यह सारी ईद मुहर्रम हो जाए।' – इस कथन का आशय स्पष्ट कीजिए।
4. 'मानो भ्रातृत्व का एक सूत्र इन समस्त आत्माओं को एक लड़ी में पिरोए हुए है।' इस कथन के संदर्भ में स्पष्ट कीजिए कि 'धर्म तोड़ता नहीं जोड़ता है।'
5. निम्नलिखित गद्यांशों की सप्रसंग व्याख्या कीजिए –

   (क) कई बार यही क्रिया होती है.....आत्माओं को एक लड़ी में पिरोए हुए है।

   (ख) बुढ़िया का क्रोध.....स्वाद से भरा हुआ।
6. हामिद ने चिमटे की उपयोगिता को सिद्ध करते हुए क्या-क्या तर्क दिए?

© NCERT not to be republished

साहित्य का उद्देश्य

सज्जनो,

यह सम्मेलन हमारे साहित्य के इतिहास में एक स्मरणीय घटना है। हमारे सम्मेलनों और अंजुमनों में अब तक आम तौर पर भाषा और उसके प्रचार पर ही बहस की जाती रही है। यहाँ तक कि उर्दू और हिन्दी का जो आरम्भिक साहित्य मौजूद है, उसका उद्देश्य, विचारों और भावों पर असर डालना नहीं, किन्तु केवल भाषा का निर्माण करना था। वह भी एक बड़े महत्त्व का कार्य था। जब तक भाषा एक स्थायी रूप न प्राप्त कर ले, उसमें विचारों और भावों को व्यक्त करने की शक्ति ही कहाँ से आयेगी? हमारी भाषा के 'पायनियरों' ने—रास्ता साफ़ करनेवालों ने हिन्दुस्तानी भाषा का निर्माण करके जाति पर जो एहसान किया है, उसके लिए हम उनके कृतज्ञ न हों तो यह हमारी कृतघ्नता होगी।

भाषा साधन है, साध्य नहीं। अब हमारी भाषा ने वह रूप प्राप्त कर लिया है कि हम भाषा से आगे बढ़कर भाव की ओर ध्यान दें और इस पर विचार करें कि जिस उद्देश्य से यह निर्माण-कार्य आरम्भ किया गया था, वह क्योंकर पूरा हो। वही भाषा, जिसमें आरम्भ में 'बागो-बहार' और 'बैताल-पचीसी' की रचना ही सबसे बड़ी साहित्य-सेवा थी, अब इस योग्य हो गई है कि उसमें शास्त्र और विज्ञान के प्रश्नों की भी विवेचना की जा सके और यह सम्मेलन इस सचाई की स्पष्ट स्वीकृति है।

भाषा बोल-चाल की भी होती है और लिखने की भी। बोल-चाल की भाषा तो मीर अम्मन और लल्लूलाल के जमाने में भी मौजूद थी; पर उन्होंने जिस भाषा की दाग बेल डाली वह लिखने की भाषा थी और वही साहित्य है। बोल-चाल से हम अपने क़रीब के लोगों पर

अपने विचार प्रकट करते हैं—अपने हर्ष-शोक के भावों का चित्र खींचते हैं। साहित्यकार वही काम लेखनी-द्वारा करता है। हाँ, उसके श्रोताओं की परिधि बहुत विस्तृत होती है, और अगर उसके बयान में सचाई है तो शताब्दियों और युगों तक उसकी रचनाएँ हृदयों को प्रभावित करती रहती हैं।

परंतु मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि जो कुछ लिख दिया जाय, वह सब-का-सब साहित्य है। साहित्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें कोई सचाई प्रकट की गई हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और सुन्दर हो और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो। और साहित्य में यह गुण पूर्णरूप में उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन की सचाइयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गई हों। तिलिस्माती कहानियों, भूत-प्रेत की कथाओं और प्रेम-वियोग के आख्यानों से किसी ज़माने में हम भले ही प्रभावित हुए हों; पर अब उनमें हमारे लिए बहुत कम दिलचस्पी है। इसमें सन्देह नहीं कि मानव प्रकृति का मर्मज्ञ साहित्यकार राजकुमारों की प्रेम-गाथाओं और तिलिस्माती कहानियों में भी जीवन की सचाइयाँ वर्णन कर सकता है, और सौन्दर्य की सृष्टि कर सकता है; परन्तु इससे भी इस सत्य की पुष्टि ही होती है कि साहित्य में प्रभाव उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवन की सचाइयों का दर्पण हो। फिर आप उसे जिस चौखटे में चाहें लगा सकते हैं—चिड़े की कहानी और गुलो-बुलबुल की दास्तान भी उसके लिए उपयुक्त हो सकती है।

साहित्य की बहुत-सी परिभाषाएँ की गई हैं; पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है। चाहे वह निबन्ध के रूप में हो, चाहे कहानियों के, या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।

हमने जिस युग को अभी पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी कर उसमें मनमाने तिलिस्म बाँधा करते थे। कहीं किसी नये अजायब की दास्तान

थी, कहीं बोस्ताने खयाल की और कहीं चन्द्रकान्ता सन्तति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत-रस-प्रेम की तृप्ति ; साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है, जीवन जीवन ; दोनों परस्पर विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थीं। कवियों पर भी व्यक्तिवाद का रंग चढ़ा हुआ था। प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था, और सौन्दर्य का आँखों को। इन्हीं शृंगारिक भावों को प्रकट करने में कवि-मण्डली अपनी प्रतिभा और कल्पना के चमत्कार दिखाया करती थी। पद्य में कोई नई शब्द-योजना, नई कल्पना का होना दाद पाने के लिए काफ़ी था—चाहे वह वस्तु-स्थिति से कितनी ही दूर क्यों न हो। आशियाना (=घोंसला) और क़फ़स (=पींजरा), बर्क़ (=बिजली) और खिरमन की कल्पनाएँ विरह-दशाओं के वर्णन में निराशा और वेदना की विविध अवस्थाएँ, इस ख़ूबी से दिखाई जाती थीं कि सुननेवाले दिल थाम लेते थे। और आज भी इस ढंग की कविता कितनी लोक-प्रिय है, इसे हम और आप ख़ूब जानते हैं।

[निस्सन्देह, काव्य और साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाना है ;] पर मनुष्य का जीवन केवल स्त्री-पुरुष-प्रेम का जीवन नहीं है। क्या वह साहित्य, जिसका विषय शृंगारिक मनोभावों और उनसे उत्पन्न होनेवाली विरह-व्यथा, निराशा आदि तक ही सीमित हो—जिसमें दुनिया और दुनिया की कठिनाइयों से दूर भागना ही जीवन की सार्थकता समझी गई हो, हमारी विचार और भाव-सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है ? शृंगारिक मनोभाव मानव-जीवन का एक अंग-मात्र है, और जिस साहित्य का अधिकांश इसी से सम्बन्ध रखता हो, वह उस जाति और उस युग के लिए गर्व करने की वस्तु नहीं हो सकता और न उसकी सुरुचि का ही प्रमाण हो सकता है।

क्या हिन्दी और क्या उर्दू—कविता में दोनों की एक ही हालत थी। उस समय साहित्य और काव्य के विषय में जो लोक-रुचि थी,

उसके प्रभाव से अलिप्त रहना सहज न था। सराहना और क़द्रदानी की हवस तो हरएक की होती है। कवियों के लिए उनकी रचना ही जीविका का साधन थी। और कविता की क़द्रदानी रईसों और अमीरों के सिवा और कौन कर सकता है? हमारे कवियों को साधारण जीवन का सामना करने और उसकी सचाइयों से प्रभावित होने के या तो अवसर ही न थे, या हर छोटे-बड़े पर कुछ ऐसी मानसिक गिरावट छाई हुई थी कि मानसिक और बौद्धिक जीवन रह ही न गया था।

हम इसका दोष उस समय के साहित्यकारों पर ही नहीं रख सकते। साहित्य अपने काल का प्रतिबिम्ब होता है। जो भाव और विचार लोगों के हृदयों को स्पन्दित करते हैं, वही साहित्य पर भी अपनी छाया डालते हैं। ऐसे पतन के काल में लोग या तो आशिकी करते हैं, या अध्यात्म और वैराग्य में मन रमाते हैं। जब साहित्य पर संसार की नश्वरता का रंग चढ़ा हो, और उसका एक-एक शब्द नैराश्य में डूबा, समय की प्रतिकूलता के रोने से भरा और शृंगारिक भावों का प्रतिबिम्ब बना हो, तो समझ लीजिये कि जाति जड़ता और ह्रास के पंजे में फँस चुकी है और उसमें उद्योग तथा संघर्ष का बल बाक़ी नहीं रहा। उसने ऊँचे लक्ष्यों की ओर से आँखें बन्द कर ली हैं और उसमें से दुनिया को देखने-समझने की शक्ति लुप्त हो गई है।

परन्तु हमारी साहित्यिक रुचि बड़ी तेज़ी से बदल रही है। अब साहित्य केवल मन-बहलाव की चीज नहीं है, मनोरंजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है। अब वह केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं सुनाता; किन्तु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है, और उन्हें हल करता है। अब वह स्फूर्ति या प्रेरणा के लिए अद्भुत आश्चर्यजनक घटनाएँ नहीं ढूँढ़ता और न अनुप्रास का अन्वेषण करता है; किन्तु उसे उन प्रश्नों से दिलचस्पी है जिससे समाज या व्यक्ति प्रभावित होते हैं। उसकी उत्कृष्टता की वर्तमान कसौटी अनुभूति की वह तीव्रता है जिससे वह हमारे भावों और विचारों में गति पैदा करता है।

नीति-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र का लक्ष्य एक ही है—केवल उपदेश की विधि में अन्तर है। नीति-शास्त्र तर्कों और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिए मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है। हम जीवन में जो कुछ देखते हैं, या जो कुछ हम पर गुज़रती है, वही अनुभव और वही चोटें कल्पना में पहुँचकर साहित्य-सृजन की प्रेरणा करती हैं। कवि या साहित्यकार में अनुभूति की जितनी तीव्रता होती है, उसकी रचना उतनी ही आकर्षक और ऊँचे दरजे की होती है। जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौन्दर्य-प्रेम न जाग्रत हो,—जो हममें सच्चा सङ्कल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहाने का अधिकारी नहीं।

पुराने ज़माने में समाज की लगाम मज़हब के हाथ में थी। मनुष्य की आध्यात्मिक और नैतिक सभ्यता का आधार धार्मिक आदेश था और वह भय या प्रलोभन से काम लेता था—पुण्य-पाप के मसले उसके साधन थे।

अब, साहित्य ने यह काम अपने जिम्मे ले लिया है और उसका साधन सौन्दर्य-प्रेम है। वह मनुष्य में इसी सौन्दर्य-प्रेम को जगाने का यत्न करता है। ऐसा कोई मनुष्य नहीं जिसमें सौन्दर्य की अनुभूति न हो। साहित्यकार में यह वृत्ति जितनी ही जाग्रत और सक्रिय होती है, उसकी रचना उतनी ही प्रभावमयी होती है। प्रकृति-निरीक्षण और अपनी अनुभूति की तीक्ष्णता की बदौलत उसके सौन्दर्य-बोध में इतनी तीव्रता आ जाती है कि जो कुछ असुन्दर है, अभद्र है, मनुष्यता से रहित है, वह उसके लिए असह्य हो जाता है। उस पर वह शब्दों और भावों की सारी शक्ति से वार करता है। यों कहिये कि वह मानवता, दिव्यता और भद्रता का बाना बाँधे होता है। जो दलित है, पीड़ित है, वञ्चित है—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वका-

लत करना उसका फर्ज है। उसकी अदालत समाज है, इसी अदालत के सामने वह अपना इस्तग़ासा पेश करता है और उसकी न्याय-वृत्ति तथा सौन्दर्य-वृत्ति को जाग्रत् करके अपना यत्न सफल समझता है।

पर साधारण वकीलों की तरह साहित्यकार अपने मुवक्किल की ओर से उचित-अनुचित—सब तरह के दावे नहीं पेश करता, अतिरंजना से काम नहीं लेता, अपनी ओर से बातें गढ़ता नहीं। वह जानता है कि इन युक्तियों से वह समाज की अदालत पर असर नहीं डाल सकता। उस अदालत का हृदय-परिवर्तन तभी सम्भव है जब आप सत्य से तनिक भी विमुख न हों, नहीं तो अदालत की धारणा आपकी ओर से खराब हो जायगी और वह आपके खिलाफ फैसला सुना देगी। वह कहानी लिखता है पर वास्तविकता का ध्यान रखते हुए, मूर्ति बनाता है पर ऐसी कि उसमें सजीवता हो और भावव्यञ्जकता भी—वह मानव-प्रकृति का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करता है, मनोविज्ञान का अध्ययन करता है और इसका यत्न करता है कि उसके पात्र हर हालत में और हर मौक़े पर इस तरह आचरण करें, जैसे रक्त-मांस का बना मनुष्य करता है; अपनी सहज सहानुभूति और सौन्दर्य-प्रेम के कारण वह जीवन के उन सूक्ष्म स्थानों तक जा पहुँचता है जहाँ मनुष्य अपनी मनुष्यता के कारण पहुँचने में असमर्थ होता है।

आधुनिक साहित्य में वस्तु-स्थिति-चित्रण की प्रवृत्ति इतनी बढ़ रही है कि आज की कहानी यथासम्भव प्रत्यक्ष अनुभवों की सीमा के बाहर नहीं जाती। हमें केवल इतना सोचने से ही सन्तोष नहीं होता कि मनोविज्ञान की दृष्टि से ये सभी पात्र मनुष्यों से मिलते-जुलते हैं; बल्कि हम यह इत्मीनान चाहते हैं कि वे सचमुच मनुष्य हैं, और लेखक ने यथासम्भव उनका जीवन-चरित्र ही लिखा है; क्योंकि कल्पना के गढ़े हुए आदमियों में हमारा विश्वास नहीं है, उनके कार्यों और विचारों से हम प्रभावित नहीं होते। हमें इसका निश्चय हो जाना चाहिये कि लेखक ने जो सृष्टि की है, वह प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर की गई है और अपने पात्रों की ज़बान से वह ख़ुद बोल रहा है।

इसीलिए साहित्य को कुछ समालोचकों ने लेखक का मनोवैज्ञानिक जीवन-चरित्र कहा है।

एक ही घटना या स्थिति से सभी मनुष्य समान रूप में प्रभावित नहीं होते। हर आदमी की मनोवृत्ति और दृष्टिकोण अलग है। रचना-कौशल इसी में है कि लेखक जिस मनोवृत्ति या दृष्टिकोण से किसी बात को देखे, पाठक भी उसमें उससे सहमत हो जाय। यही उसकी सफलता है। इसके साथ ही हम साहित्यकार से यह भी आशा रखते हैं कि वह अपनी बहुज्ञता और अपने विचारों की विस्तृति से हमें जाग्रत करे, हमारी दृष्टि तथा मानसिक परिधि को विस्तृत करे—उसकी दृष्टि इतनी सूक्ष्म, इतनी गहरी और इतनी विस्तृत हो कि उसकी रचना से हमें आध्यात्मिक आनन्द और बल मिले।

सुधार की जिस अवस्था में वह हो उससे अच्छी अवस्था आने की प्रेरणा हर आदमी में मौजूद रहती है। हममें जो कमजोरियाँ हैं, वह मर्ज की तरह हमसे चिमटी हुई हैं। जैसे शारीरिक स्वास्थ्य एक प्राकृतिक बात है और रोग उसका उलटा, उसी तरह नैतिक और मानसिक स्वास्थ्य भी प्राकृतिक बात है और हम मानसिक तथा नैतिक गिरावट से उसी तरह संतुष्ट नहीं रहते जैसे कोई रोगी अपने रोग से संतुष्ट नहीं रहता। जैसे वह सदा किसी चिकित्सक की तलाश में रहता है, उसी तरह हम भी इस फिक्र में रहते हैं कि किसी तरह अपनी कमजोरियों को परे फेंककर अधिक अच्छे मनुष्य बनें। इसी लिए हम साधु-फकीरों की खोज में रहते हैं, पूजा-पाठ करते हैं, बड़े-बूढ़ों के पास बैठते हैं, विद्वानों के व्याख्यान सुनते हैं और साहित्य का अध्ययन करते हैं।

और हमारी सारी कमजोरियों की जिम्मेदारी हमारी कुरुचि और प्रेम-भाव से वंचित होने पर है। जहाँ सच्चा सौन्दर्य-प्रेम है, जहाँ प्रेम की विस्तृति है, वहाँ कमजोरियाँ कहाँ रह सकती हैं? प्रेम ही तो आध्यात्मिक भोजन है और सारी कमजोरियाँ इसी भोजन के न मिलने अथवा दूषित भोजन के मिलने से पैदा होती हैं। कलाकार हममें सौन्दर्य

की अनुभूति उत्पन्न करता है और प्रेम की उष्णता। उसका एक वाक्य, एक शब्द, एक संकेत, इस तरह हमारे अन्दर जा बैठता है कि हमारा अन्तःकरण प्रकाशित हो जाता है। पर जब तक कलाकार खुद सौन्दर्य-प्रेम से छककर मस्त न हो और उसकी आत्मा स्वयं इस ज्योति से प्रकाशित न हो, वह हमें यह प्रकाश क्योंकर दे सकता है?

प्रश्न यह है कि सौन्दर्य है क्या वस्तु? प्रकटतः यह प्रश्न निरर्थक-सा मालूम होता है; क्योंकि सौन्दर्य के विषय में हमारे मन में कोई शंका—संदेह नहीं। हमने सूरज का उगना और डूबना देखा है, उषा और संध्या की लालिमा देखी है, सुन्दर सुगन्धि-भरे फूल देखे हैं, मीठी बोलियाँ बोलनेवाली चिड़ियाँ देखी हैं, कल-कल-निनादिनी नदियाँ देखी हैं, नाचते हुए झरने देखे हैं,—यही सौन्दर्य है।

इन दृश्यों को देखकर हमारा अंतःकरण क्यों खिल उठता है? इसलिए कि इनमें रंग या ध्वनि का सामंजस्य है। बाजों का स्वर साम्य अथवा मेल ही संगीत की मोहकता का कारण है। हमारी रचना ही तत्त्वों के समानुपात में संयोग से हुई है; इसलिए हमारी आत्मा सदा उसी साम्य की, सामंजस्य की, खोज में रहती है। साहित्य कलाकार के आध्यात्मिक सामंजस्य का व्यक्त रूप है और सामंजस्य सौन्दर्य की सृष्टि करता है, नाश नहीं। वह हममें वफ़ादारी, सचाई, सहानुभूति, न्यायप्रियता और समता के भावों की पुष्टि करता है। जहाँ ये भाव हैं वहीं दृढ़ता है और जीवन है; जहाँ इनका अभाव है वहीं फूट, विरोध, स्वार्थपरता है—द्वेष, शत्रुता और मृत्यु है। यह विलगाव—विरोध प्रकृति-विरुद्ध जीवन के लक्षण हैं, जैसे रोग प्रकृति-विरुद्ध आहार-विहार का चिह्न है। जहाँ प्रकृति से अनुकूलता और साम्य है वहाँ संकीर्णता और स्वार्थ का अस्तित्व कैसे संभव होगा? जब हमारी आत्मा प्रकृति के मुक्त वायुमण्डल में पालित-पोषित होती है, तो नीचता—दुष्टता के कीड़े अपने आप हवा और रोशनी से मर जाते हैं। प्रकृति से अलग होकर अपने को सीमित कर लेने से ही यह सारी मानसिक और भावगत बीमारियाँ पैदा होती हैं। साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और

स्वाधीन बनाता है ; दूसरे शब्दों में, उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।

'प्रगतिशील लेखक-संघ', यह नाम ही मेरे विचार से ग़लत है। साहित्यकार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है ; अगर यह उसका स्वभाव न होता, तो शायद वह साहित्यकार ही न होता। उसे अपने अन्दर भी एक कमी महसूस होती है और बाहर भी। इसी कमी को पूरा करने के लिए उसकी आत्मा बेचैन रहती है। अपनी कल्पना में वह व्यक्ति और समाज को सुख और स्वच्छन्दता की जिस अवस्था में देखना चाहता है, वह उसे दिखाई नहीं देती। इसलिए, वर्तमान मानसिक और सामाजिक अवस्थाओं से उसका दिल कुढ़ता रहता है। वह इन अप्रिय अवस्थाओं का अन्त कर देना चाहता है जिससे दुनिया जीने और मरने के लिए इससे अधिक अच्छा स्थान हो जाय। यही वेदना और यही भाव उसके हृदय और मस्तिष्क को सक्रिय बनाये रखता है। उसका दर्द से भरा हृदय इसे सहन नहीं कर सकता कि एक समुदाय क्यों सामाजिक नियमों और रूढ़ियों के बन्धन में पड़कर कष्ट भोगता रहे, क्यों न ऐसे सामान इकट्ठा किये जायँ कि वह ग़ुलामी और ग़रीबी से छुटकारा पा जाय ? वह इस वेदना को जितनी बेचैनी के साथ अनुभव करता है, उतना ही उसकी रचना में ज़ोर और सचाई पैदा होती है। अपनी अनुभूतियों को वह जिस क्रमानुपात में व्यक्त करता है, वही उसकी कला-कुशलता का रहस्य है ; पर शायद इस विशेषता पर ज़ोर देने की ज़रूरत इसलिए पड़ी कि प्रगति या उन्नति से प्रत्येक लेखक या ग्रंथकार एक ही अर्थ नहीं ग्रहण करता। जिन अवस्थाओं को एक समुदाय उन्नति समझ सकता है, दूसरा समुदाय असंदिग्ध अवनति मान सकता है ; इसलिए साहित्यकार अपनी कला को किसी उद्देश्य के अधीन नहीं करना चाहता। उसके विचारों में कला केवल मनोभावों के व्यक्तीकरण का नाम है, चाहे उन भावों से व्यक्ति या समाज पर कैसा ही असर क्यों न पड़े।

उन्नति से हमारा तात्पर्य उस स्थिति से है जिससे हममें दृढ़ता और

कर्म-शक्ति उत्पन्न हो, जिससे हमें अपनी दुःखावस्था की अनुभूति हो, हम देखें कि किन अन्तर्बाह्य कारणों से हम इस निर्जीवता और ह्रास की अवस्था को पहुँच गये, और उन्हें दूर करने की कोशिश करें।

हमारे लिए कविता के वे भाव निरर्थक हैं, जिनसे संसार की नश्वरता का आधिपत्य हमारे हृदय पर और दृढ़ हो जाय, जिनसे हमारे हृदयों में नैराश्य छा जाय। वे प्रेम-कहानियाँ, जिनसे हमारे मासिक-पत्रों के पृष्ठ भरे रहते हैं, हमारे लिए अर्थहीन हैं अगर वे हममें हरकत और गरमी नहीं पैदा करतीं। अगर हमने दो नवयुवकों की प्रेम-कहानी कह डाली, पर उससे हमारे सौन्दर्य-प्रेम पर कोई असर न पड़ा और पड़ा भी तो केवल इतना कि हम उनकी विरह व्यथा पर रोये, तो इससे हममें कौन-सी मानसिक या रुचि-सम्बन्धी गति पैदा हुई? इन बातों से किसी जमाने में हमें भावावेश हो जाता रहा हो; पर आज के लिए वे बेकार हैं। इस भावोत्तेजक कला का अब जमाना नहीं रहा। अब तो हमें उस कला की आवश्यकता है जिसमें कर्म का सन्देश हो। अब तो हज़रते इक़बाल के साथ हम भी कहते हैं—

रमूजे हयात जोई जुज़्दर तपिश नयाबी,
दरकुलज़ुम आरमीदन नंगस्त आबे जूरा।
ब आशियाँ न नशीनम जो लज़्ज़ते परवाज़,
गहे बशाख़े गुलम गहे बरलबे जूयम।

[अर्थात्, अगर तुझे जीवन के रहस्य की खोज है तो वह तुझे संघर्ष के सिवा और कहीं नहीं मिलने का—समुद्र में जाकर विश्राम करना नदी के लिए लज्जा की बात है। आनन्द पाने लिए मैं घोंसले में कभी बैठता नहीं,—कभी फूलों की टहनियों पर तो कभी नदी-तट पर होता हूँ।]

अतः हमारे पंथ में अहंवाद अथवा अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को प्रधानता देना वह वस्तु है जो हमें जड़ता, पतन और लापरवाही की ओर ले जाती है और ऐसी कला हमारे लिए न व्यक्ति-रूप में उपयोगी है और न समुदाय-रूप में।

मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ। निस्सन्देह कला का उद्देश्य सौन्दर्य-वृत्ति की पुष्टि करना है और वह हमारे आध्यात्मिक आनन्द की कुंजी है; पर ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनन्द नहीं जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो। आनन्द स्वतः एक उपयोगिता-युक्त वस्तु है और उपयोगिता की दृष्टि से एक ही वस्तु से हमें सुख भी होता है और दुःख भी। आसमान पर छाई लालिमा निस्सन्देह बड़ा सुन्दर दृश्य है; परन्तु आषाढ़ में अगर आकाश पर वैसी लालिमा छा जाय, तो वह हमें प्रसन्नता देनेवाली नहीं हो सकती। उस समय तो हम आसमान पर काली-काली घटाएँ देखकर ही आनन्दित होते हैं। फूलों को देखकर हमें इसलिए आनन्द होता है कि उनसे फलों की आशा होती है, प्रकृति से अपने जीवन का सुर मिलाकर रहने में हमें इसी लिए आध्यात्मिक सुख मिलता है कि उससे हमारा जीवन विकसित और पुष्ट होता है। प्रकृति का विधान वृद्धि और विकास है और जिन भावों, अनुभूतियों और विचारों से हमें आनन्द मिलता है, वे इसी वृद्धि और विकास के सहायक हैं। कलाकार अपनी कला से सौन्दर्य की सृष्टि करके परिस्थिति को विकास के उपयोगी बनाता है।

परन्तु सौन्दर्य भी और पदार्थों की तरह स्वरूपस्थ और निरपेक्ष नहीं, उसकी स्थिति भी सापेक्ष है। एक रईस के लिए जो वस्तु सुख का साधन है, वही दूसरे के लिए दुःख का कारण हो सकती है। एक रईस अपने सुरभित सुरम्य उद्यान में बैठकर जब चिड़ियों का कल-गान सुनता है तो उसे स्वर्गीय सुख की प्राप्ति होती है; परन्तु एक दूसरा सज्ञान मनुष्य वैभव की इस सामग्री को घृणिततम वस्तु समझता है।

बन्धुत्व और समता, सभ्यता तथा प्रेम सामाजिक जीवन के आरम्भ से ही, आदर्शवादियों का सुनहला स्वप्न रहे हैं। धर्म-प्रवर्तकों ने धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक बन्धनों से इस स्वप्न को सचाई बनाने का सतत, किन्तु निष्फल यत्न किया है। महात्मा बुद्ध, हजरत ईसा,

हज़रत मुहम्मद आदि सभी पैग़म्बरों और धर्म प्रवर्तकों ने नीति की नींव पर इस समता की इमारत खड़ी करनी चाही ; पर किसी को सफलता न मिली और छोटे बड़े का भेद जिस निष्ठुर रूप में प्रकट हो रहा है, शायद कभी न हुआ था।

'आज़माये को आज़माना मूर्खता है', इस कहावत के अनुसार यदि हम अब भी धर्म और नीति का दामन पकड़कर समानता के ऊँचे लक्ष्य पर पहुँचना चाहें, तो विफलता ही मिलेगी। क्या हम इस सपने को उत्तेजित मस्तिष्क की सृष्टि समझकर भूल जायँ ? तब तो मनुष्य की उन्नति और पूर्णता के लिए कोई आदर्श ही बाक़ी न रह जायगा। इससे कहीं अच्छा है कि मनुष्य का अस्तित्व ही मिट जाय। जिस आदर्श को हमने सभ्यता के आरम्भ से पाला है, जिसके लिए मनुष्य ने, ईश्वर जाने कितनी क़ुरबानियाँ की हैं ; जिसकी परिणति के लिए धर्मों का आविर्भाव हुआ, मानव-समाज का इतिहास जिस आदर्श की प्राप्ति का इतिहास है, उसे सर्वमान्य समझकर, एक अमिट सचाई समझकर, हमें उन्नति के मैदान में क़दम रखना है। हमें एक ऐसे नये संघटन को सर्वांङ्गपूर्ण बनाना है जहाँ समानता केवल नैतिक बन्धनों पर आश्रित न रहकर अधिक ठोस रूप प्राप्त कर ले, हमारे साहित्य को उसी आदर्श को अपने सामने रखना है।

हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरों का पल्ला पकड़े रहना चाहता था, उन्हीं की क़द्रदानी पर उसका अस्तित्व अवलंबित था और उन्हीं के सुख-दुःख, आशा-निराशा, प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता की व्याख्या कला का उद्देश्य था। उसकी निगाह अंतःपुर और बँगलों की ओर उठती थी। झोंपड़े और खँडहर उसके ध्यान के अधिकारी न थे। उन्हें वह मनुष्यता की परिधि के बाहर समझता था। कभी इनकी चर्चा करता भी था तो इनका मज़ाक उड़ाने के लिए। ग्रामवासी की देहाती वेष-भूषा और तौर-तरीके पर हँसने के लि , उसका शीन-क़ाफ़ दुरुस्त न होना या मुहाविरों का राल्त उपयोग

उसके व्यंग्य विद्रूप की स्थायी सामग्री थी। वह भी मनुष्य है, उसके भी हृदय है और उसमें भी आकांक्षाएँ हैं,—यह कला की कल्पना के बाहर की बात थी।

कला नाम था और अब भी है, संकुचित रूप-पूजा का, शब्द-योजना का, भाव-निबंधन का। उसके लिए कोई आदर्श नहीं है, जीवन का कोई ऊँचा उद्देश्य नहीं है,—भक्ति, वैराग्य, अध्यात्म और दुनिया से किनाराकशी उसकी सबसे ऊँची कल्पनाएँ हैं। हमारे उस कलाकार के विचार से जीवन का चरम लक्ष्य यही है। उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन-संग्राम में सौन्दर्य का परमोत्कर्ष देखे। उपवास और नग्नता में भी सौन्दर्य का अस्तित्व संभव है, इसे कदाचित् वह स्वीकार नहीं करता। उसके लिए सौन्दर्य सुन्दर स्त्री है,—उस बच्चोंवाली ग़रीब रूप-रहित स्त्री में नहीं जो बच्चे को खेत की मेंड़ पर सुलाये पसीना बहा रही है; उसने निश्चय कर लिया है कि रँगे होठों, कपोलों और भौंहों में निस्सन्देह सुन्दरता का वास है,—उसके उलझे हुए बालों, पपड़ियाँ पड़े हुए होठों और कुम्हलाये हुए गालों में सौन्दर्य का प्रवेश कहाँ?

पर यह संकीर्ण-दृष्टि का दोष है। अगर उसकी सौन्दर्य देखनेवाली दृष्टि में विस्तृति आ जाय तो वह देखेगा कि रँगे होठों और कपोलों की आड़ में अगर रूप-गर्व और निष्ठुरता छिपी है, तो इन मुरझाये हुए होठों और कुम्हलाये हुए गालों के आँसुओं में त्याग, श्रद्धा और कष्ट-सहिष्णुता है। हाँ, उसमें नज़ाकत नहीं, दिखावा नहीं, सुकुमारता नहीं।

हमारी कला यौवन के प्रेम में पागल है और यह नहीं जानती कि जवानी छाती पर हाथ रखकर कविता पढ़ने, नायिका की निष्ठुरता का रोना रोने या उसके रूप-गर्व और चोंचलों पर सिर धुनने में नहीं है। जवानी नाम है आदर्शवाद का, हिम्मत का, कठिनाई से मिलने की इच्छा का, आत्म-त्याग का। उसे तो इक़बाल के साथ कहना होगा—

अज़ दस्ते जुनूने मन जिब्रील चकूँ सैदे,
यज़दाँ बकमन्द आवर ऐ हिम्मते मरदाना।

[अर्थात् मेरे उन्मत्त हाथों के लिए जिब्राल्ट एक घटिया शिकार है। ऐ हिम्मते मरदाना, क्यों न अपनी कमन्द में तू खुदा को ही फाँस लाये ?]

अथवा

चूँ मौज साजे वजूदम जे सैल बेपरवास्त,
गुमां मबर कि दरीं बहर साहिले जोयम।

[अर्थात् तरंग की भाँति मेरे जीवन की तरी भी प्रवाह की ओर से बेपरवाह है, यह न सोचो कि इस समुद्र में मैं किनारा ढूँढ़ रहा हूँ।]

और यह अवस्था उस समय पैदा होगी जब हमारा सौन्दर्य व्यापक हो जायगा, जब सारी सृष्टि उसकी परिधि में आ जायगी। वह किसी विशेष श्रेणी तक ही सीमित न होगा, उसकी उड़ान के लिए केवल बाग़ की चहारदीवारी न होगी, किन्तु वह वायु-मण्डल होगा जो सारे भू-मण्डल को घेरे हुए है। तब कुरुचि हमारे लिए सह्य न होगी, तब हम उसकी जड़ खोदने के लिए कमर कसकर तैयार हो जायँगे। हम जब ऐसी व्यवस्था को सहन न कर सकेंगे कि हजारों आदमी कुछ अत्याचारियों की ग़ुलामी करें, तभी हम केवल काराज के पृष्ठों पर सृष्टि करके ही सन्तुष्ट न हो जायँगे, किन्तु उस विधान की सृष्टि करेंगे, जो सौन्दर्य, सुरुचि, आत्म-सम्मान और मनुष्यता का विरोधी न हो।

साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफ़िल सजाना और मनोरञ्जन का सामान जुटाना नहीं है,—उसका दरजा इतना न गिराइये। वह देश-भक्ति और राजनीति के पीछे चलनेवाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलनेवाली सचाई है।

हमें अक्सर यह शिकायत होती है कि साहित्यकारों के लिए समाज में कोई स्थान नहीं,—अर्थात् भारत के साहित्यकारों के लिए। सभ्य देशों में तो साहित्यकार समाज का सम्मानित सदस्य है और बड़े-बड़े अमीर और मन्त्रि-मण्डल के सदस्य उससे मिलने में अपना गौरव समझते हैं ; परन्तु हिन्दुस्तान तो अभी मध्य-युग की अवस्था में

पड़ा हुआ है। यदि साहित्य ने अमीरों के याचक बनने को जीवन का सहारा बना लिया हो, और उन आन्दोलनों, हलचलों और क्रान्तियों से बेख़बर हो जो समाज में रही हैं,—अपनी ही दुनिया बनाकर उसमें रोता और हँसता हो, तो इस दुनिया में उसके लिए जगह न होने में कोई अन्याय नहीं है। जब साहित्यकार बनने के लिए अनुकूल रुचि के सिवा और कोई क़ैद नहीं रही,—जैसे महात्मा बनने के लिए किसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नहीं,—आध्यात्मिक उच्चता ही काफ़ी है, तो महात्मा लोग दरदर फिरने लगे, उसी तरह साहित्यकार भी लाखों निकल आये।

इसमें शक नहीं कि साहित्यकार पैदा होता है, बनाया नहीं जाता ; पर यदि हम शिक्षा और जिज्ञासा से प्रकृति की इस देन को बढ़ा सकें, तो निश्चय ही हम साहित्य की अधिक सेवा कर सकेंगे। अरस्तू ने और दूसरे विद्वानों ने भी साहित्यकार बननेवालों के लिए कड़ी शर्तें लगाई हैं ; और उनकी मानसिक, नैतिक आध्यात्मिक और भावगत सभ्यता तथा शिक्षा के लिए सिद्धान्त और विधियाँ निश्चित कर दी गई हैं ; मगर आज तो हिन्दी में साहित्यकार के लिए प्रवृतिमात्र अलम् समझी जाती है, और किसी प्रकार की तैयारी की उसके लिए आवश्यकता नहीं। वह राजनीति, समाज-शास्त्र या मनोविज्ञान से सर्वथा अपरिचित हो, फिर भी वह साहित्यकार है।

साहित्यकार के सामने आजकल जो आदर्श रखा गया है, उसके अनुसार ये सभी विद्याएँ उसके विशेष अंग बन गई हैं और साहित्य की प्रवृत्ति अहंवाद या व्यक्तिवाद तक परिमित नहीं रही, बल्कि वह मनोवैज्ञानिक और सामाजिक होता जाता है। अब वह व्यक्ति को समाज से अलग नहीं देखता, किन्तु उसे समाज के एक अङ्ग-रूप में देखता है। इसलिए नहीं कि वह समाज पर हुकूमत करे, उसे अपने स्वार्थ-साधना का औज़ार बनाये,—मानो उसमें और समाज में सनातन शत्रुता है, बल्कि इसलिए कि समाज के अस्तित्व के साथ उसका अस्तित्व क़ायम है और समाज से अलग होकर उसका मूल्य शून्य के बराबर हो जाता है।

हममें से जिन्हें सर्वोत्तम शिक्षा और सर्वोत्तम मानसिक शक्तियाँ मिली हैं, उन पर समाज के प्रति उतनी ही जिम्मेदारी भी है। हम उस मानसिक पूँजीपति को पूजा के योग्य न समझेंगे जो समाज के पैसे से ऊँची शिक्षा प्राप्त कर उसे शुद्ध स्वार्थ-साधन में लगाता है। समाज से निजी लाभ उठाना ऐसा काम है जिसे कोई साहित्यकार कभी पसन्द न करेगा। उस मानसिक पूँजीपति का कर्तव्य है कि वह समाज के लाभ को अपने निज के लाभ से अधिक ध्यान देने योग्य समझे—अपनी विद्या और योग्यता से समाज को अधिक से अधिक लाभ पहुँचाने की कोशिश करे। वह साहित्य के किसी भी विभाग में प्रवेश क्यों न करे,—उसे उस विभाग से विशेषतः और सब विभागों से सामान्यतः परिचय हो।

अगर हम अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यकार सम्मेलनों की रिपोर्ट पढ़ें, तो हम देखेंगे कि ऐसा कोई शास्त्रीय, सामाजिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक प्रश्न नहीं है, जिस पर उनमें विचार-विनिमय न होता हो। इसके विरुद्ध, हम अपनी ज्ञान-सीमा को देखते हैं तो हमें अपने अज्ञान पर लज्जा आती है। हमने समझ रखा है कि साहित्य-रचना के लिए, आशुबुद्धि और तेज क़लम काफी है; पर यही विचार हमारी साहित्यिक अवनति का कारण है। हमें अपने साहित्य का मान-दण्ड ऊँचा करना होगा जिसमें वह समाज की अधिक मूल्यवान् सेवा कर सके, जिसमें समाज में उसे वह पद मिले जिसका वह अधिकारी है, जिसमें वह जीवन के प्रत्येक विभाग की आलोचना-विवेचना कर सके और हम दूसरी भाषाओं तथा साहित्यों का जूठा खाकर ही सन्तोष न करें, किन्तु खुद भी उस पूँजी को बढ़ायें।

हमें अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुकूल विषय चुन लेने चाहिये और विषय पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना चाहिये। हम जिस आर्थिक अवस्था में ज़िन्दगी बिता रहे हैं, उसमें यह काम कठिन अवश्य है; पर हमारा आदर्श ऊँचा रहना चाहिये। हम पहाड़ की चोटी तक न पहुँच सकेंगे, तो कमर तक तो पहुँच ही जायँगे जो ज़मीन पर पड़े रहने से

कहीं अच्छा है। अगर हमारा अन्तर प्रेम की ज्योति से प्रकाशित हो और सेवा का आदर्श हमारे सामने हो, तो ऐसी कोई कठिनाई नहीं जिस पर हम विजय न प्राप्त कर सकें।

जिन्हें धन-वैभव प्यारा है, साहित्य-मन्दिर में उनके लिए स्थान नहीं है। यहाँ तो उन उपासको की आवश्यकता है जिन्होंने सेवा को ही अपने जीवन की सार्थकता मान ली हो, जिनके दिल में दर्द की तड़प हो और मुहब्बत का जोश हो। अपनी इज्ज़त तो अपने हाथ है। अगर हम सच्चे दिल से समाज की सेवा करेंगे तो मान, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि सभी हमारे पाँव चूमेंगी। फिर मान-प्रतिष्ठा की चिन्ता हमें क्यों सताये ? और उसके न मिलने से हम निराश क्यों हों ? सेवा में जो आध्यात्मिक आनन्द है वही हमारा पुरस्कार है, - हमें समाज पर अपना बड़प्पन जताने, उस पर रोब जमाने की हवस क्यों हो ? दूसरों से ज्यादा आराम के साथ रहने की इच्छा भी हमें क्यों सताये ? हम अमीरों की श्रेणी में अपनी गिनती क्यों करायें ? हम तो समाज के झण्डा लेकर चलनेवाले सिपाही हैं और सादी ज़िन्दगी के साथ ऊँची निगाह हमारे जीवन का लक्ष्य है। जो आदमी सच्चा कलाकार है, वह स्वार्थमय जीवन का प्रेमी नहीं हो सकता। उसे अपनी मनस्तुष्टि के लिए दिखावे की आवश्यकता नहीं,—उससे तो उसे घृणा होती है। वह तो इक़बाल के साथ कहता है—

मर्दुम आज़ादम आगूना रायूरम कि मरा,
मीतवां कुश्तव येक जामे जुलाले दीगरां।

[अर्थात् मैं आज़ाद हूँ और इतना हयादार हूँ कि मुझे दूसरों के निथरे हुए पानी के एक प्याले से मारा जा सकता है।]

हमारी परिषद् ने कुछ इसी प्रकार के सिद्धान्तों के साथ कर्म-क्षेत्र में प्रवेश किया है। साहित्य का शराब-कबाब और राग-रंग का मुखापेक्षी बना रहना उसे पसन्द नहीं। वह उसे उद्योग और कर्म का सन्देशवाहक बनाने का दावेदार है। उसे भाषा से बहस नहीं। आदर्श व्यापक होने से भाषा अपने आप सरल हो जाती है। भाव-सौन्दर्य बनाव-सिंगार

से बेपरवाई ही दिखा सकता है। जो साहित्यकार अमीरों का मुँह जोहनेवाला है वह रईसी रचना-शैली स्वीकार करता है, जो जन-साधारण का है वह जन-साधारण की भाषा में लिखता है। हमारा उद्देश्य देश में ऐसा वायु-मण्डल उत्पन्न कर देना है, जिसमें अभीष्ट प्रकार का साहित्य उत्पन्न हो सके और पनप सके। हम चाहते हैं कि साहित्य-केन्द्रों में हमारी परिषदें स्थापित हों और वहाँ साहित्य की रचनात्मक प्रवृत्तियों पर नियम-पूर्वक चर्चा हो, नियम पढ़े जायँ, बहस हो, आलोचना-प्रत्यालोचना हो। तभी वह वायु-मण्डल तैयार होगा। तभी साहित्य में नये युग का आविर्भाव होगा।

हम हरएक सूबे में हरएक जबान में ऐसी परिषदें स्थापित कराना चाहते हैं जिसमें हरएक भाषा में अपना सन्देश पहुँचा सकें। यह समझना भूल होगी कि यह हमारी कोई नई कल्पना है। नहीं, देश के साहित्य-सेवियों के हृदयों में सामुदायिक भावनाएँ विद्यमान हैं। भारत की हरएक भाषा में इस विचार के बीज प्रकृति और परिस्थिति ने पहले से बो रखे हैं, जगह-जगह उसके अँखुये भी निकलने लगे हैं। उसको सींचना, उसके लक्ष्य को पुष्ट करना हमारा उद्देश्य है।

हम साहित्यकारों में कर्मशक्ति का अभाव है। यह एक कड़वी सचाई है; पर हम उसकी ओर से आँखें नहीं बन्द कर सकते। अभी तक हमने साहित्य का जो आदर्श अपने सामने रखा था, उसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी। कर्माभाव ही उसका गुण था; क्योंकि अक्सर कर्म अपने साथ पक्षपात और संकीर्णता को भी लाता है। अगर कोई आदमी धार्मिक होकर अपनी धार्मिकता पर गर्व करे, तो इससे कहीं अच्छा है कि वह धार्मिक न होकर 'खाओ-पिओ मौज करो' का क़ायल हो। ऐसा स्वच्छन्दाचारी तो ईश्वर की दया का अधिकारी हो भी सकता है; पर धार्मिकता का अभिमान रखनेवाले के लिए इसकी सम्भावना नहीं।

जो हो, अब तक साहित्य का काम केवल मन-बहलाव का सामान जुटाना, केवल लोरियाँ गा-गाकर सुलाना, केवल आँसू बहाकर जी

हलका करना था, तब तक इसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी। वह एक दीवाना था जिसका ग़म दूसरे खाते थे ; मगर हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो,—जो हममें गति और संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं ; क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।

['प्रगतिशील लेखक-संघ' के लखनऊ अधिवेशन में सभापति के आसन से दिया हुआ एक भाषण।]

उर्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तानी

यह बात सभी लोग मानते हैं कि राष्ट्र को दृढ़ और बलवान बनाने के लिए देश में सांस्कृतिक एकता का होना बहुत आवश्यक है। और किसी राष्ट्र की भाषा तथा लिपि इस सांस्कृतिक एकता का एक विशेष अङ्ग है। श्रीमती खलीदा अदीब खानम ने अपने एक भाषण में कहा था कि तुर्की जाति और राष्ट्र की एकता तुर्की भाषा के कारण ही हुई है। और यह निश्चित बात है कि राष्ट्रीय भाषा के बिना किसी राष्ट्र के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं हो सकती। जब तक भारतवर्ष की कोई राष्ट्रीय भाषा न हो, तब तक वह राष्ट्रीयता का दावा नहीं कर सकता। सम्भव है कि प्राचीन काल में भारतवर्ष एक राष्ट्र रहा हो; परन्तु बौद्धों के पतन के उपरान्त उसकी राष्ट्रीयता का भी अन्त हो गया था। यद्यपि देश में सांस्कृतिक एकता वर्त्तमान थी, तो भी भाषाओं के भेद ने देश को खण्ड-खण्ड करने का काम और भी सुगम कर दिया था। मुसलमानों के शासन-काल में भी जो कुछ हुआ था, उसमें भिन्न-भिन्न प्रान्तों का राजनीतिक एकीकरण तो हो गया था, परन्तु उस समय भी देश में राष्ट्रीयता का अस्तित्व नहीं था। और सच बात तो यह है कि राष्ट्रीयता की भावना अपेक्षाकृत बहुत थोड़े दिनों से संसार में उत्पन्न हुई है और इसे उत्पन्न हुए लगभग दो सौ वर्षों से अधिक नहीं हुए। भारतवर्ष में राष्ट्रीयता का आरम्भ अंगरेजी राज्य की स्थापना के साथ-साथ हुआ था। और उसी की दृढ़ता के साथ-साथ इसकी भी वृद्धि हो रही है। लेकिन इस समय राजनीतिक पराधीनता के अतिरिक्त देश के भिन्न-भिन्न अङ्गों और तत्त्वों में कोई ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है जो उन्हें संघटित करके एक राष्ट्र का स्वरूप दे सके। यदि आज भारतवर्ष से अंगरेजी राज्य उठ जाय तो इन तत्त्वों में जो एकता इस समय दिखाई दे रही है, बहुत सम्भव है कि वह विभेद और विरोध का रूप धारण

कर ले और भिन्न-भिन्न भाषाओं के आधार पर एक ऐसा नया संघटन उत्पन्न हो जाय जिसका एक दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध ही न हो। और फिर वही खींचातानी शुरू हो जाय जो अंगरेजों के यहाँ आने से पहले थी। अतः राष्ट्र के जीवन के लिए यह बात आवश्यक है कि देश में सांस्कृतिक एकता हो। और भाषा की एकता उस सांस्कृतिक एकता का प्रधान स्तम्भ है; इसलिए यह बात भी आवश्यक है कि भारतवर्ष की एक ऐसी राष्ट्रीय भाषा हो जो देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक बोली और समझी जाय। इसी बात का आवश्यक परिणाम यह होगा कि कुछ दिनों में राष्ट्रीय साहित्य की सृष्टि भी आरम्भ हो जायगी और एक ऐसा समय आयेगा, जब कि भिन्न-भिन्न जातियों और राष्ट्रों के साहित्यिक मण्डल में हिन्दुस्तानी भाषा भी बराबरी की हैसियत से शामिल होने के क़ाबिल हो जायगी।

परन्तु प्रश्न तो यह है कि इस राष्ट्रीय भाषा का स्वरूप क्या हो? आज-कल भिन्न-भिन्न प्रान्तों में जो भाषाएँ प्रचलित हैं उसमें तो राष्ट्रीय-भाषा बनने की योग्यता नहीं, क्योंकि उनके कार्य और प्रचार का क्षेत्र परिमित है। केवल एक ही भाषा ऐसी है जो देश के एक बहुत बड़े भाग में बोली जाती है और उससे भी कहीं बड़े भाग में समझी जाती है। और उसी को राष्ट्रीय भाषा का पद दिया जा सकता है। परन्तु इस समय उस भाषा के तीन स्वरूप हैं—उर्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तानी। और अभी तक यह बात राष्ट्रीय-रूप से निश्चित नहीं की जा सकी है कि इनमें से कौन-सा स्वरूप ऐसा है जो देश में सबसे अधिक मान्य हो सकता है और जिसका प्रचार भी ज्यादा आसानी से हो सकता है। तीनों ही स्वरूपों के पक्षपाती और समर्थक मौजूद हैं और उनमें खींचा-तानी हो रही है। यहाँ तक कि इस मत-भेद को राजनीतिक स्वरूप दे दिया गया है और हम इस प्रश्न पर शान्त चित्त और शान्त मस्तिष्क से विचार करने के अयोग्य हो गये हैं।

लेकिन इन सब रुकावटों के होते हुए भी यदि हम भारतीय राष्ट्रीयता के लक्ष्य तक पहुँचना और उसकी सिद्धि करना असम्भव

समझकर हिम्मत न हार बैठें तो फिर हमारे लिए इस प्रश्न की किसी-न-किसी प्रकार मीमांसा करना आवश्यक हो जाता है।

देश में ऐसे आदमियों की संख्या कम नहीं है जो उर्दू और हिन्दी की अलग-अलग और स्वतन्त्र उन्नति और विकास के मार्ग में बाधक नहीं होना चाहते। उन्होंने यह मान लिया है कि आरम्भ में इन दोनों के स्वरूपों में चाहे जो कुछ एकता और समानता रही हो, लेकिन फिर भी इस समय दोनों की दोनों जिस रास्ते पर जा रही हैं, उसे देखते हुए इन दोनों में मेल और एकता होना असम्भव ही है। प्रत्येक भाषा की एक प्राकृतिक प्रवृत्ति होती है। उर्दू का फारसी और अरबी के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है। और हिन्दी का संस्कृत तथा प्राकृत के साथ उसी प्रकार का सम्बन्ध है। उनकी यह प्रवृत्ति हम किसी शक्ति से रोक नहीं सकते। फिर इन दोनों को आपस में मिलाने का प्रयत्न करके हम क्यों व्यर्थ इन दोनों को हानि पहुँचावें?

यदि उर्दू और हिन्दी दोनों अपने आपको अपने जन्म-स्थान और प्रचार-क्षेत्र तक ही परिमित रखें तो हमें इनकी प्राकृतिक वृद्धि और विकास के सम्बन्ध में कोई आपत्ति न हो। बँगला, मराठी, गुजराती, तमिल, तेलगू और कन्नड़ी आदि प्रान्तीय भाषाओं के सम्बन्ध में हमें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है। उन्हें अधिकार है कि वे अपने अन्दर चाहें जितनी संस्कृत, अरबी या लैटिन आदि भरती चलें। उन भाषाओं के लेखक आदि स्वयं ही इस बात का निर्णय कर सकते हैं; परन्तु उर्दू और हिन्दी की बात इन सबसे अलग है। यहाँ तो दोनों ही भारत-वर्ष की राष्ट्रीय भाषा कहलाने का दावा करती हैं। परन्तु वे अपने व्यक्तिगत रूप में राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकीं और इसी लिए संयुक्त रूप में स्वयं ही उनका संयोग और मेल आरम्भ हो गया। और दोनों का यह सम्मिलित स्वरूप उत्पन्न हो गया जिसे हम बहुत ठीक तौर पर हिन्दुस्तानी जबान कहते हैं। वास्तविक बात तो यह है कि भारतवर्ष की राष्ट्रीय-भाषा न तो वह उर्दू ही हो सकती है जो अरबी और फारसी के अप्रचलित तथा अपरिचित शब्दों के भार

से लदी रहती है और न वह हिन्दी ही हो सकती है जो संस्कृत के कठिन शब्दों से लदी हुई होती है। यदि इन दोनों भाषाओं के पक्षपाती और समर्थक आमने-सामने खड़े होकर अपनी साहित्यिक भाषाओं में बातें करें तो शायद एक दूसरे का कुछ भी मतलब न समझ सकें। हमारी राष्ट्रीय भाषा तो वही हो सकती है जिसका आधार सर्व-सामान्य-बोधगम्यता हो—जिसे सब लोग सहज में समझ सकें। वह इस बात की क्यों परवाह करने लगी कि अमुक शब्द इसलिए छोड़ दिया जाना चाहिये कि वह फ़ारसी, अरबी अथवा संस्कृत का है? वह तो केवल यह मान-दण्ड अपने सामने रखती है कि जन-साधारण यह शब्द समझ सकते हैं वा नहीं। और जन-साधारण में हिन्दू, मुसलमान, पंजाबी, बंगाली, महाराष्ट्र और गुजराती सभी सम्मिलित हैं। यदि कोई शब्द या मुहावरा या पारिभाषिक शब्द जन साधारण में प्रचलित है तो फिर वह इस बात की परवाह नहीं करती कि वह कहाँ से निकला है और कहाँ से आया है। और यही हिन्दुस्तानी है। और जिस प्रकार अंगरेज़ों की भाषा अंगरेज़ी, जापान की जापानी, ईरान की ईरानी और चीन की चीनी है, उसी प्रकार हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय भाषा को इसी तौर पर हिंदुस्तानी कहना केवल उचित ही नहीं, बल्कि आवश्यक भी है। और अगर इस देश को हिंदुस्तान न कहकर केवल हिंद कहें तो इसकी भाषा को हिंदी कह सकते हैं। लेकिन यहाँ की भाषा को उर्दू तो किसी प्रकार कहा ही नहीं जा सकता, जब तक हम हिंदुस्तान को उर्दूस्तान न कहने लगें, जो अब किसी प्रकार सम्भव ही नहीं है। प्राचीन काल के लोग यहाँ की भाषा को हिन्दी ही कहते थे। और ख़ुसरो ने ख़ालिकबारी की रचना करके हिन्दुस्तानी की नींव रखी थी। इस ग्रंथ की रचना में कदाचित् उसका यही अभिप्राय होगा कि जन-साधारण की आवश्यकता के शब्द उन्हें दोनों ही रूपों में सिखलाये जायँ, जिसमें उन्हें अपने रोज़मर्रा के कामों में सहूलियत हो जाय। अभी तक इस बात का निर्णय नहीं हो सका है कि उर्दू की सृष्टि कब और कहाँ हुई थी। जो हो; परंतु भारतवर्ष की राष्ट्रीय भाषा न तो उर्दू ही है और न हिन्दी;

बल्कि वह हिन्दुस्तानी है जो सारे हिन्दुस्तान में समझी जाती है और उसके बहुत बड़े भाग में बोली जाती है ; लेकिन फिर भी लिखी कहीं नहीं जाती। और यदि कोई लिखने का प्रयत्न करता है तो उर्दू और हिन्दी के साहित्यिज्ञ उसे टाट बाहर कर देते हैं। वास्तव में उर्दू और हिंदी की उन्नति में जो बात बाधक है, वह उनका वैशिष्ट्य प्रेम है। हम चाहे उर्दू लिखें और चाहे हिन्दी, जन-साधारण के लिए नहीं लिखते ; बल्कि एक परिमित वर्ग के लिए लिखते हैं। और यही कारण है कि हमारी साहित्यिक रचनाएँ जन-साधारण को प्रिय नहीं होतीं। यह बात बिलकुल ठीक है कि किसी देश में भी लिखने और बोलने की भाषाएँ एक नहीं हुआ करतीं। जो अंग्रेजी हम किताबों और अखबारों में पढ़ते हैं, वह कहीं बोली नहीं जाती। पढ़े-लिखे लोग भी उस भाषा में बातचीत नहीं करते, जिस भाषा में ग्रन्थ और समाचार-पत्र आदि लिखे जाते हैं। और जन-साधारण की भाषा तो बिलकुल अलग ही होती है। इंग्लैंड के हर एक पढ़े-लिखे आदमी से यह आशा अवश्य की जाती है कि वह लिखी जानेवाली भाषा समझे और अवसर पड़ने पर उसका प्रयोग भी कर सके। यही बात हम हिन्दुस्तान में भी चाहते हैं।

परंतु आज क्या परिस्थिति है ? हमारे हिन्दीवाले इस बात पर तुले हुए हैं कि हम हिन्दी से भिन्न भाषाओं के शब्दों को हिन्दी में किसी तरह घुसने ही न देंगे। उन्हें 'मनुष्य' से तो प्रेम है ; परंतु 'आदमी' से पूरी-पूरी घृणा है। यद्यपि 'दरख्वास्त' जन-साधारण में भली-भाँति प्रचलित है ; परंतु फिर भी उनके यहाँ इसका प्रयोग वर्जित है। इसके स्थान पर वे 'प्रार्थना' पत्र ही लिखना चाहते हैं, यद्यपि जन-साधारण इसका मतलब बिलकुल ही नहीं समझता। 'इस्तीफ़ा' को वे किसी तरह मंजूर नहीं कर सकते और इसके स्थान पर वे 'त्याग-पत्र' रखना चाहते हैं। 'हवाई जहाज' चाहे कितना ही सुबोध क्यों न हो, परंतु उन्हें 'वायु-यान' की सैर ही पसन्द है। उर्दूवाले तो इस बात पर और भी अधिक लट्टू हैं। वे 'खुदा' को तो मानते हैं, परंतु 'ईश्वर' को नहीं मानते। 'कुसूर' तो वे बहुत-से कर सकते हैं, परंतु 'अपराध' कभी

नहीं कर सकते। 'खिदमत' तो उन्हें बहुत पसंद है, परंतु 'सेवा' उन्हें एक आँख भी नहीं भाती। इसी तरह हम लोगों ने उर्दू और हिन्दी के दो अलग-अलग कैम्प बना लिए हैं। और मजाल नहीं कि एक कैम्प का आदमी दूसरे कैम्प में पैर भी रख सके। इस दृष्टि से हिन्दी के मुकाबले में उर्दू में कहीं अधिक कड़ाई है। हिन्दुस्तानी इस चारदीवारी को तोड़कर दोनों में मेल-जोल पैदा कर देना चाहती है, जिसमें दोनों एक दूसरे के घर बिना किसी प्रकार के संकोच के आ-जा सकें; और वह भी सिर्फ मेहमान की हैसियत से नहीं, बल्कि घर के आदमी की तरह। 'गारसन डि टासी' के शब्दों में उर्दू और हिन्दी के बीच में कोई ऐसी विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती जहाँ एक को विशेष रूप से हिन्दी और दूसरी को उर्दू कहा जा सके। अंग्रेजी भाषा के भी अनेक रंग हैं। कहीं लैटिन और यूनानी शब्दों की अधिकता होती है, कहीं ऐंग्लो-सैक्सन शब्दों की। परंतु है दोनों ही अंग्रेजी। इसी प्रकार हिन्दी या उर्दू शब्दों के विभेद के कारण दो भिन्न-भिन्न भाषाएँ नहीं हो सकतीं। जो लोग भारतीय-राष्ट्रीयता का स्वप्न देखते हैं और जो इस सांस्कृतिक एकता को दृढ़ करना चाहते हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि वे लोग हिन्दुस्तानी का निमन्त्रण ग्रहण करें जो कोई नई भाषा नहीं है; बल्कि उर्दू और हिंदी का राष्ट्रीय स्वरूप है।

संयुक्त-प्रान्त के अपर प्राइमरी स्कूलों में चौथे दरजे तक इसी मिश्रित भाषा अर्थात् हिन्दुस्तानी की रीडरें पढ़ाई जाती हैं। केवल उनकी लिपि अलग होती है। उनकी भाषा में कोई अन्तर नहीं होता। इसमें शिक्षा-विभाग का उद्देश्य यह होगा कि इस प्रकार विद्यार्थियों में बचपन में ही हिन्दुस्तानी की नींव पड़ जायगी और वे उर्दू तथा हिन्दी के विशेष प्रचलित शब्दों से भली-भाँति परिचित हो जायँगे और उन्हीं का प्रयोग करने लगेंगे। इसमें दूसरा लाभ यह भी है कि एक ही शिक्षक शिक्षा दे सकता है। इस समय भी यही व्यवस्था प्रचलित है। लेकिन हिन्दी और उर्दू के पक्षपातियों की ओर से इसकी शिकायतें शुरू हो गई हैं कि इस मिश्रित भाषा की शिक्षा से विद्यार्थियों को कुछ भी

साहित्यिक ज्ञान नहीं होने पाता और वे अपर प्राइमरी के बाद भी साधारण पुस्तकें तक नहीं समझते। इसी शिकायत को दूर करने के लिए इन रीडरों के अतिरिक्त अपर प्राइमरी दरजों के लिए एक साहित्यिक रीडर भी नियत हुई है। हमारे मासिक-पत्र, समाचार-पत्र और पुस्तकें आदि विशुद्ध हिन्दी में प्रकाशित होती हैं। इसलिए जब तक उर्दू पढ़नेवाले लड़कों के पास फारसी और अरबी शब्दों का और हिन्दी पढ़नेवाले लड़कों के पास संस्कृत शब्दों का यथेष्ट भंडार न हो, तब तक वे उर्दू या हिन्दी की कोई पुस्तक नहीं समझ सकते। इस प्रकार बाल्यावस्था से ही हमारे यहाँ उर्दू और हिन्दी का विभेद आरम्भ हो जाता है। क्या इस विभेद को मिटाने का कोई उपाय नहीं है?

जो लोग इस विभेद के पक्षपाती हैं, उनके पास अपने-अपने दावे की दलीलें और तर्क भी मौजूद हैं। उदाहरण के लिए विशुद्ध हिन्दी के पक्षपाती कहते हैं कि संस्कृत की ओर झुकने से हिन्दी भाषा हिन्दुस्तान की दूसरी भाषाओं के पास पहुँच जाती है। अपने विचार प्रकट करने के लिए उसे बने-बनाये शब्द मिल जाते हैं; लिखावट में साहित्यिक रूप आ जाता है, आदि, आदि। इसी तरह उर्दू का झण्डा लेकर चलनेवाले कहते हैं कि फारसी और अरबी की ओर झुकने से एशिया की दूसरी भाषाएँ, जैसे फारसी और अरबी, उर्दू के पास आ जाती हैं। अपने विचार प्रकट करने के लिए उसे अरबी का विद्या-सम्बन्धी भांडार मिल जाता है, जिससे बढ़कर विद्या की भाषा और कोई नहीं है, और लेखन-शैली में गम्भीरता और शान आ जाती है, आदि, आदि। इसलिए क्यों न इन दोनों को अपने-अपने ढंग पर चलने दिया जाय और उन्हें आपस में मिलाकर क्यों दोनों के रास्तों में रुकावटें पैदा की जायँ? यदि सभी लोग इन तर्कों से सहमत हो जायँ, तो इसका अभिप्राय यही होगा कि हिन्दुस्तान में कभी राष्ट्रीय भाषा की सृष्टि न हो सकेगी। इसलिए हमें आवश्यक है कि जहाँ तक हो सके, हम इस प्रकार की धारणाओं को दूर करके ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करें जिससे हम दिन पर दिन राष्ट्रीय भाषा के और भी अधिक समीप

पहुँचते जायँ, और सम्भव है कि दस-बीस वर्षों में हमारा स्वप्न यथार्थता में परिणत हो जाय।

हिन्दुस्तान के हर एक सूबे में मुसलमानों की थोड़ी-बहुत संख्या मौजूद ही है। संयुक्त प्रान्त के सिवा और-और सूबों में मुसलमानों ने अपने-अपने सूबे की भाषा अपना ली है। बंगाल का मुसलमान बँगला बोलता और लिखता है, गुजरात का गुजराती, मैसूर का कन्नड़ी, मद्रास का तमिल और पंजाब का पंजाबी आदि। यहाँ तक कि उसने अपने अपने सूबे की लिपि भी ग्रहण कर ली है। उर्दू लिपि और भाषा से यद्यपि उसका धार्मिक और सांस्कृतिक अनुराग हो सकता है, लेकिन नित्यप्रति के जीवन में उसे उर्दू की बिलकुल आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि दूसरे-दूसरे सूबों के मुसलमान अपने-अपने सूबे की भाषा निस्संकोच भाव से सीख सकते हैं और उसे यहाँ तक अपनी भी बना सकते हैं कि हिन्दुओं और मुसलमानों की भाषा में नाम को भी कोई भेद नहीं रह जाता, तो फिर संयुक्तप्रांत और पंजाब के मुसलमान क्यों हिन्दी से इतनी घृणा करते हैं? हमारे सूबे के देहातों में रहनेवाले मुसलमान प्रायः देहातियों की भाषा ही बोलते हैं। जो बहुत-से मुसलमान देहातों से आकर शहरों में आबाद हो गये हैं, वे भी अपने घरों में देहाती जबान ही बोलते हैं। बोल-चाल की हिन्दी समझने में न तो साधारण मुसलमानों को ही कोई कठिनता होती है और न बोल-चाल की उर्दू समझने में साधारण हिन्दुओं को ही। बोल चाल की हिन्दी और उर्दू प्रायः एक-सी ही हैं। हिन्दी के जो शब्द साधारण पुस्तकों और समाचार-पत्रों में व्यवहृत होते हैं और कभी-कभी पण्डितों के भाषणों में भी आ जाते हैं, उनकी संख्या दो हजार से अधिक न होगी। इसी प्रकार फ़ारसी के साधारण शब्द भी इससे अधिक न होंगे। क्या उर्दू के वर्त्तमान कोषों में दो हजार हिन्दी शब्द और हिन्दी के कोषों में दो हजार उर्दू शब्द नहीं बढ़ाये जा सकते? और इस प्रकार हम एक मिश्रित कोष की सृष्टि नहीं कर सकते? क्या हमारी स्मरण-शक्ति पर यह भार असह्य होगा? हम अंगरेजी के

असंख्य शब्द याद कर सकते हैं और वह भी केवल एक अस्थायी आवश्यकता की पूर्त्ति करने के लिए। तो फिर क्या हम एक स्थायी उद्देश्य की सिद्धि के लिए थोड़े-से शब्द भी याद नहीं कर सकते। उर्दू और हिन्दी भाषाओं में न तो अभी विस्तार ही है और न दृढ़ता। उनके शब्दों की संख्या परिमित है। प्रायः साधारण अभिप्राय प्रकट करने के लिए भी उपयुक्त शब्द नहीं मिलते। शब्दों की इस वृद्धि से यह शिकायत दूर हो सकती है।

भारतवर्ष की सभी भाषाएँ या तो प्रत्यक्ष रूप से और या अप्रत्यक्ष रूप से संस्कृत से निकली हैं। गुजराती, मराठी और बँगला की तो लिपियाँ भी देव-नागरी से मिलती-जुलती हैं। यद्यपि दक्षिणी भारत की भाषाओं की लिपियाँ बिल्कुल भिन्न हैं; परन्तु फिर भी उनमें संस्कृत शब्दों की बहुत अधिकता है। अरबी और फ़ारसी के शब्द भी सभी प्रांतीय भाषाओं में कुछ न कुछ मिलते हैं। परंतु उनमें संस्कृत शब्दों की इतनी अधिकता नहीं होती जितनी हिन्दी में होती है। इसलिए यह बात बिल्कुल ठीक है कि भारतवर्ष में ऐसी हिन्दी बहुत सहज में स्वीकृत और प्रचलित हो सकती है जिसमें संस्कृत के शब्द अधिक हों। दूसरे प्रांतों के मुसलमान भी ऐसी हिन्दी सहज में समझ सकते हैं; परंतु फ़ारसी और अरबी के शब्दों से लदी हुई उर्दू भाषा के लिए संयुक्त प्रांत और पंजाब के नगरों और क़स्बों तथा हैदराबाद के बड़े-बड़े शहरों के सिवा और कोई क्षेत्र नहीं। मुसलमान संख्या में अवश्य आठ करोड़ हैं; लेकिन उर्दू बोलनेवाले मुसलमान इसके एक चौथाई से अधिक न होंगे। ऐसी अवस्था में क्या उच्चकोटि की राष्ट्रीयता के विचार से इसकी आवश्यकता नहीं है कि उर्दू में कुछ आवश्यक सुधार और वृद्धि करके उसे हिन्दी के साथ मिला लिया जाय? और हिन्दी में भी इसी प्रकार की वृद्धि करके उसे उर्दू से मिला दिया जाय? और इस मिश्रित भाषा को इतना दृढ़ कर दिया जाय कि वह सारे भारतवर्ष में बोली-समझी जा सके? और हमारे लेखक जो कुछ लिखें, वह एक विशेष क्षेत्र के लिए न हो; बल्कि सारे भारतवर्ष के लिए हो? सिन्धी

भाषा इस प्रकार के मिश्रण का बहुत अच्छा उदाहरण है। सिन्धी भाषा की केवल लिपि अरबी है; परंतु उसमें हिन्दी के सभी तत्त्व सम्मिलित कर लिये गये हैं। और शब्दों की दृष्टि से भी उसमें संस्कृत, अरबी और फ़ारसी का कुछ ऐसा सम्मिश्रण हो गया है कि कहीं खटक नहीं मालूम होती। हिन्दुस्तानी के लिए भी कुछ इसी प्रकार के सम्मिश्रण की आवश्यकता है।

जो लोग उर्दू और हिन्दी को बिल्कुल अलग-अलग रखना चाहते हैं, उनका यह कहना एक बहुत बड़ी सीमा तक ठीक है कि मिश्रित भाषा में क़िस्से-कहानियाँ और नाटक आदि तो लिखे जा सकते हैं, परंतु विज्ञान और साहित्य के उच्च विषय उसमें नहीं लिखे जा सकते। वहाँ तो विवश होकर फ़ारसी और अरबी के शब्दों से भरी हुई उर्दू और संस्कृत के शब्दों से भरी हुई हिन्दी का व्यवहार आवश्यक हो जायगा। विज्ञान और विद्या-सम्बन्धी विषय लिखने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता उपयुक्त पारिभाषिक शब्दों की होती है। और पारिभाषिक शब्दों के लिए हमें विवश होकर अरबी और संस्कृत के असीम शब्द-भाण्डारों से सहायता लेनी पड़ेगी। इस समय प्रत्येक प्रान्तीय भाषा अपने लिए अलग-अलग पारिभाषिक शब्द तैयार कर रही है। उर्दू में भी विज्ञान-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्द बनाये गये हैं और अभी यह क्रम चल रहा है। क्या यह बात कहीं अधिक उत्तम न होगी कि भिन्न-भिन्न प्रान्तीय सभाएँ और संस्थाएँ आपस में मिलकर परामर्श करें और एक दूसरी की सहायता से यह कठिन कार्य पूरा करें? इस समय सभी लोगों को अलग-अलग बहुत कुछ परिश्रम, माथापच्ची और व्यय करना पड़ रहा है और उसमें बहुत कुछ बचत हो सकती है। हमारी समझ में तो यह आता है कि नये सिरे से पारिभाषिक शब्द बनाने की जगह कहीं अच्छा यह होगा कि अँगरेज़ी के प्रचलित पारिभाषिक शब्दों में कुछ आवश्यक परिवर्त्तन करके उन्हीं को ग्रहण कर लिया जाय। ये पारिभाषिक शब्द केवल अँगरेज़ी में ही प्रचलित नहीं हैं; बल्कि प्रायः सभी उन्नत भाषाओं में इनसे मिलते-

जुलते पारिभाषिक शब्द पाये जाते हैं। कहते हैं कि जापानियों ने भी इसी मार्ग का अवलम्बन किया है। और भिन्न में थोड़े बहुत सुधार और परिवर्तन के साथ उन्हीं को ग्रहण किया गया है। यदि हमारी भाषा में बटन, लालटेन और बाइसिकिल सरीखे सैकड़ों विदेशी शब्द खप सकते हैं, तो फिर पारिभाषिक शब्दों को लेने में कौन-सी बात बाधक हो सकती है? यदि प्रत्येक प्रान्त ने अपने अलग-अलग पारिभाषिक शब्द बना लिये तो फिर भारतवर्ष की कोई राष्ट्रीय विद्या और विज्ञान-सम्बन्धी भाषा न बन सकेगी। बँगला, मराठी, गुजराती और कन्नडी आदि भाषाएँ संस्कृत की सहायता से यह कठिनता दूर कर सकती हैं। उर्दू भी अरबी और फ़ारसी की सहायता से अपनी पारिभाषिक आवश्यकताएँ पूरी कर सकती है। परन्तु हमारे लिए ऐसे शब्द प्रचलित अंगरेजी पारिभाषिक शब्दों से भी कहीं अधिक अपरिचित होंगे। 'आईन अकबरी' ने हिन्दू-दर्शन, संगीत और गणित के लिए संस्कृत के प्रचलित पारिभाषिक शब्द ग्रहण करके एक अच्छा उदाहरण उपस्थित कर दिया है। इस्लामी दर्शन, धर्म-शास्त्र आदि में से हम प्रचलित अरबी पारिभाषिक शब्द ग्रहण कर सकते हैं। जो विद्याएँ पाश्चात्य देशों से अपने-अपने पारिभाषिक शब्द लेकर आई हैं, यदि उन्हें भी हम उन शब्दों के सहित ग्रहण कर लें तो यह बात हमारी ऐतिहासिक परम्परा से भिन्न न होगी।

यह कहा जा सकता है कि मिश्रित हिन्दुस्तानी उतनी सरस और कोमल न होगी। परन्तु सरसता और कोमलता का मान-दण्ड सदा बदलता रहता है। कई साल पहले अचकन पर अंगरेजी टोपी बेजोड़ और हास्यास्पद मालूम होती थी। लेकिन अब वह साधारणतः सभी जगह दिखाई देती है। स्त्रियों के लिए लम्बे-लम्बे सिर के बाल सौन्दर्य का एक विशेष स्तम्भ हैं; परन्तु आजकल तराशे हुए बाल प्रायः पसन्द किये जाते हैं। फिर किसी भाषा का मुख्य गुण उसकी सरसता ही नहीं है, बल्कि मुख्य गुण तो अभिप्राय प्रकट करने की शक्ति है। यदि हम सरसता और कोमलता की कुरबानी करके भी अपनी राष्ट्रीय

भाषा का क्षेत्र विस्तृत कर सकें तो हमें इसमें संकोच नहीं होना चाहिये। जब कि हमारे राजनीतिक संसार में एक फेडरेशन या संघ की नींव डाली जा रही है, तब क्यों न हम साहित्यिक संसार में भी एक फेडरेशन या संघ की स्थापना करें जिसमें हर एक प्रान्तीय भाषा के प्रतिनिधि साल में एक बार एक सप्ताह के लिए किसी केन्द्र में एकत्र होकर राष्ट्रीय भाषा के प्रश्न पर विचार-विनिमय करें और अनुभव के प्रकाश में सामने आनेवाली समस्याओं की मीमांसा करें? जब हमारे जीवन की प्रत्येक बात और प्रत्येक अंग में परिवर्तन हो रहे हैं और प्रायः हमारी इच्छा के विरुद्ध भी परिवर्तन हो रहे हैं, तो फिर भाषा के विषय में हम क्यों सौ वर्ष पहले के विचारों और दृष्टिकोणों पर अड़े रहें? अब वह अवसर आ गया है कि अखिल भारतीय हिन्दुस्तानी भाषा और साहित्य की एक सभा या संस्था स्थापित की जाय जिसका काम ऐसी हिन्दुस्तानी भाषा की सृष्टि करना हो जो प्रत्येक प्रान्त में प्रचलित हो सके। यहाँ यह बताने की आवश्यकता नहीं कि इस सभा या संस्था के कर्त्तव्य और उद्देश्य क्या होंगे। इसी सभा या संस्था का यह काम होगा कि वह अपना कार्य-क्रम तैयार करे। हमारा तो यही निवेदन है कि अब इस काम में ज्यादा देर करने की गुञ्जाइश नहीं है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी और उसकी समस्याएँ

प्यारे मित्रो,

आपने मुझे जो यह सम्मान दिया है, उसके लिए मैं आपको सौ जबानों से धन्यवाद देना चाहता हूँ ; क्योंकि आपने मुझे वह चीज दी है, जिसके मैं बिलकुल अयोग्य हूँ। न मैंने हिन्दी-साहित्य पढ़ा है, न उसका इतिहास पढ़ा है, न उसके विकासक्रम के बारे में ही कुछ जानता हूँ। ऐसा आदमी इतना मान पाकर फूला न समाय, तो वह आदमी नहीं है। नेवता पाकर मैंने उसे तुरन्त स्वीकार किया। लोगों में 'मन भाए और मुँड़िया हिलाए' की जो आदत होती है, वह खतरा मैं न लेना चाहता था। यह मेरी ढिठाई है कि मैं यहाँ यह काम करने खड़ा हुआ हूँ, जिसकी मुझ में लियाक़त नहीं है; लेकिन इस तरह की गंदुमनुमाई का मैं अकेला मुजरिम नहीं हूँ। मेरे भाई घर-घर में, गली-गली में मिलेंगे। आपको तो अपने नेवते की लाज रखनी है। मैं जो कुछ अनाप-शनाप बकूँ, उसकी खूब तारीफ कीजिये, उसमें जो अर्थ न हो वह पैदा कीजिये, उसमें अध्यात्म के और साहित्य के तत्त्व खोज निकालिये— जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ !

आपकी सभा ने पन्द्रह-सोलह साल के मुख्तसर-से समय में जो काम कर दिखलाया है, उस पर मैं आपको बधाई देता हूँ, खासकर इसलिए कि आपने अपनी ही कोशिशों से यह नतीजा हासिल किया है। सरकारी इमदाद का मुँह नहीं ताका। यह आपके हौसलों की बलन्दी की एक मिसाल है। अगर मैं यह कहूँ कि आप भारत के दिमाग़ हैं, तो वह मुबालगा न होगा। किसी अन्य प्रान्त में इतना अच्छा संगठन हो सकता है और इतने अच्छे कार्यकर्त्ता मिल सकते हैं, इसमें मुझे सन्देह है। जिन दिमाग़ों ने अँग्रेजी राज्य की जड़ जमाई, जिन्होंने अंग्रेजी भाषा का सिक्का जमाया, जो अंग्रेजी आचार-विचार में भारत

में अग्रगण्य थे और हैं, वे लोग राष्ट्र-भाषा के उत्थान पर कमर बाँध लें, तो क्या कुछ नहीं कर सकते ? और यह कितने बड़े सौभाग्य की बात है कि जिन दिमागों ने एक दिन विदेशी भाषा में निपुण होना अपना ध्येय बनाया था, वे आज राष्ट्र-भाषा का उद्धार करने पर कमर कसे नजर आते हैं, और जहाँ से मानसिक पराधीनता की लहर उठी थी, वहाँ से राष्ट्रीयता की तरंगें उठ रही हैं। जिन लोगों ने अंग्रेजी लिखने और बोलने में अंग्रेजों को भी मात कर दिया, यहाँ तक कि आज जहाँ कहीं देखिये अंग्रेजी पत्रों के सम्पादक इसी प्रान्त के विद्वान् मिलेंगे, वे अगर चाहें तो हिन्दी बोलने और लिखने में हिन्दीवालों को भी मात कर सकते हैं। और गत वर्ष यादगीदल के नेताओं के भाषण सुनकर मुझे यह स्वीकार करना पड़ता है कि वह क्रिया शुरू हो गई है। 'हिन्दी-प्रचारक' में अधिकांश लेख आप लोगों ही के लिखे होते हैं और उनकी मँजी हुई भाषा और सफाई और प्रवाह पर हममें से बहुतों को रश्क आता है। और यह तब है; जब राष्ट्र-भाषा-प्रेम अभी दिलों के ऊपरी भाग तक ही पहुँचा है, और आज भी यह प्रान्त अंग्रेजी भाषा के प्रभुत्व से मुक्त होना नहीं चाहता। जब यह प्रेम दिलों में व्याप्त हो जायगा, उस वक्त उसकी गति कितनी तेज होगी, इसका कौन अनुमान कर सकता है ? हमारी पराधीनता का सबसे अपमानजनक, सबसे व्यापक, सबसे कठोर अंग अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व है। कहीं भी वह इतने नंगे रूप में नहीं नजर आती। सभ्य जीवन के हर एक विभाग में अंग्रेजी भाषा ही मानो हमारी छाती पर मूँग दल रही है। अगर आज इस प्रभुत्व को हम तोड़ सकें, तो पराधीनता का आधा बोझ हमारी गर्दन से उतर जायगा। कैदी को बेड़ी से जितनी तकलीफ होती है, उतनी और किसी बात से नहीं होती। कैदखाना शायद उसके घर से ज्यादा हवादार, साफ-सुथरा होगा। भोजन भी वहाँ शायद घर के भोजन से अच्छा और स्वादिष्ट मिलता हो। बाल-बच्चों से वह कभी-कभी स्वेच्छा से बरसों अलग रहता है। उसके दण्ड की याद दिलानेवाली चीज यही बेड़ी है, जो उठते-बैठते, सोते-जागते,

हँसते-बोलते, कभी उसका साथ नहीं छोड़ती, कभी उसे मिथ्या कल्पना भी करने नहीं देती, कि वह आज़ाद है। पैरों से कहीं ज्यादा उसका असर कैदी के दिल पर होता है, जो कभी उभरने नहीं पाता, कभी मन की मिठाई भी नहीं खाने पाता। अंग्रेजी भाषा हमारी पराधीनता की वही बेड़ी है, जिसने हमारे मन और बुद्धि को ऐसा जकड़ रखा है कि उनमें इच्छा भी नहीं रही। हमारा शिक्षित समाज इस बेड़ी को गले का हार समझने पर मजबूर है। यह उसकी रोटियों का सवाल है। और अगर रोटियों के साथ कुछ सम्मान, कुछ गौरव, कुछ अधिकार भी मिल जाय, तो क्या कहना! प्रभुता की इच्छा तो प्राणी-मात्र में होती है; अँग्रेजी भाषा ने इसका द्वार खोल दिया और हमारा शिक्षित समुदाय चिड़ियों के झुण्ड की तरह उस द्वार के अन्दर घुसकर जमीन पर बिखरे हुए दाने चुगने लगा और अब कितना ही फड़फड़ाये, उसे गुलशन की हवा नसीब नहीं। मजा यह है कि इस झुण्ड की फड़फड़ाहट बाहर निकलने के लिए नहीं, केवल जरा मनोरंजन के लिए है। उसके पर निर्जीव हो गये, और उनमें उड़ने की शक्ति नहीं रही, वह भरोसा भी नहीं रहा कि यह दाने बाहर मिलेंगे भी या नहीं। अब तो वही कफस है, वही कुल्हिया है और वही सैयाद।

लेकिन मित्रो, विदेशी भाषा सीखकर अपने गरीब भाइयों पर रोब जमाने के दिन बड़ी तेजी से विदा होते जा रहे हैं, प्रतिभा का और बुद्धिबल का जो दुरुपयोग हम सदियों से करते आये हैं, जिसके बल पर हमने अपनी एक अमीरशाही स्थापित कर ली है, और अपने को साधारण जनता से अलग कर लिया है, वह अवस्था अब बदलती जा रही है। बुद्धि-बल ईश्वर की देन है, और उसका धर्म प्रजा पर धौंस जमाना नहीं, उसका खून चूसना नहीं, उसकी सेवा करना है। आज शिक्षित समुदाय पर से जनता का विश्वास उठ गया है। वह उसे उससे अधिक विदेशी समझती है, जितनी विदेशियों को। क्या कोई आश्चर्य है कि यह समुदाय आज दोनों तरफ से ठोकरें खा रहा है? स्वामियों की ओर से इसलिए कि वह समझते हैं—मेरी चौखट के सिवा इनके

लिए और कोई आश्रय नहीं, और जनता की ओर से इसलिए कि उनका इससे कोई आत्मीय सम्बन्ध नहीं। उनका रहन-सहन, उनकी बोल-चाल, उनकी वेष-भूषा, उनके विचार और व्यवहार सब जनता से अलग हैं और यह केवल इसलिए कि हम अंग्रेजी भाषा के गुलाम हो गये। मानो परिस्थिति ऐसी है कि बिना अंग्रेजी भाषा की उपासना किये काम नहीं चल सकता; लेकिन अब तो इतने दिनों के तजरबे के बाद मालूम हो जाना चाहिए कि इस नाव पर बैठकर हम पार नहीं लग सकते, फिर हम क्यों आज भी उसी से चिमटे हुए हैं? अभी गत वर्ष एक इंटर-युनिवर्सिटी कमीशन बैठा था कि शिक्षा-सम्बन्धी विषयों पर विचार करे। उसमें एक प्रस्ताव यह भी था कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी की जगह पर मातृ-भाषा क्यों न रखा जाय। बहुमत ने इस प्रस्ताव का विरोध किया, क्यों? इसलिये कि अंग्रेजी माध्यम के बगैर अंग्रेजी में हमारे बच्चे कच्चे रह जायँगे और अच्छी अंग्रेजी लिखने और बोलने में समर्थ न होंगे; मगर इन डेढ़ सौ वर्षों की घोर तपस्या के बाद आज तक भारत ने एक भी ऐसा ग्रन्थ नहीं लिखा, जिसका इंगलैण्ड में उतना भी मान होता, जितना एक तीसरे दर्जे के अंग्रेजी लेखक का होता है। याद नहीं, पण्डित मदनमोहन मालवीयजी ने कहा था, या सर तेजबहादुर सप्रू ने, कि पचास साल तक अंग्रेजी से सिर मारने के बाद आज भी उन्हें अंग्रेजी से बोलते वक्त यह संशय होता रहता है कि कहीं उनसे गलती तो नहीं हो गई! हम आँखें फोड़-फोड़कर और कमर तोड़-तोड़कर और रक्त जला-जलाकर अंग्रेजी का अभ्यास करते हैं, उसके मुहावरे रटते हैं, लेकिन बड़े-से-बड़े भारती-साधक की रचना विद्यार्थियों की स्कूली एक्सरसाइज से ज्यादा महत्त्व नहीं रखती। अभी दो-तीन दिन हुए पंजाब के मेजुएटों की अंग्रेजी योग्यता पर वहाँ के परीक्षकों ने यह आलोचना की है कि अधिकांश छात्रों में अपने विचारों के प्रकट करने की शक्ति नहीं है, बहुत तो स्पेलिंग में गलतियाँ करते हैं। और यह नतीजा है कम-से-कम १२ साल तक आँखें फोड़ने का। फिर भी हमारे लिए शिक्षा का

अंग्रेजी माध्यम जरूरी है, यह हमारे विद्वानों की राय है। जापान और चीन और ईरान में तो शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी नहीं है। फिर भी वे सभ्यता की हरेक बात में हमसे कोसों आगे हैं; लेकिन अंग्रेजी माध्यम के बरौर हमारी नाव डूब जायगी। हमारे मारवाड़ी भाई हमारे धन्यवाद के पात्र हैं कि कम-से-कम जहाँ तक व्यापार में उनका संबंध है, उन्होंने क़ौमियत की रक्षा की है।

मित्रो, शायद मैं अपने विषय से बहक गया हूँ; लेकिन मेरा आशय केवल यह है कि हमें मालूम हो जाय, हमारे सामने कितना महान् काम है। यह समझ लीजिये कि जिस दिन आप अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व तोड़ देंगे और अपनी एक क़ौमी भाषा बना लेंगे, उसी दिन आपको स्वराज्य के दर्शन हो जायँगे। मुझे याद नहीं आता कि कोई भी राष्ट्र विदेशी भाषा के बल पर स्वाधीनता प्राप्त कर सका हो। राष्ट्र की बुनियाद राष्ट्र की भाषा है। नदी, पहाड़ और समुद्र राष्ट्र नहीं बनाते। भाषा ही वह बन्धन है, जो चिरकाल तक राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधे रहती है, और उसका शीराज़ा बिखरने नहीं देती। जिस वक्त अंग्रेज आये, भारत की राष्ट्र-भावना लुप्त हो चुकी थी। यों कहिये कि उसमें राजनैतिक चेतना की गंध तक न रह गई थी। अंग्रेजी राज ने आकर आपको एक राष्ट्र बना दिया। आज अंग्रेजी राज विदा हो जाय—और एक-न-एक दिन तो यह होना ही है—तो फिर आपका यह राष्ट्र कहाँ जायगा? क्या यह बहुत संभव नहीं है कि एक-एक प्रान्त एक-एक राज्य हो जाय और फिर वही विच्छेद शुरू हो जाय? वर्तमान दशा में तो हमारी क़ौमी चेतना को सजग और सजीव रखने के लिए अंग्रेजी राज को अमर रहना चाहिये। अगर हम एक राष्ट्र बनकर अपने स्वराज्य के लिये उद्योग करना चाहते हैं तो हमें राष्ट्र-भाषा का आश्रय लेना होगा और उसी राष्ट्र-भाषा के बख्तर से हम अपने राष्ट्र की रक्षा कर सकेंगे। आप उसी राष्ट्र-भाषा के भिक्षु हैं, और इस नाते आप राष्ट्र का निर्माण कर रहे हैं। सोचिये, आप कितना महान् काम करने जा रहे हैं। आप क़ानूनी बाल की खाल निकालनेवाले वकील नहीं बना रहे

हैं, आप शासन-मिल के मजदूर नहीं बना रहे हैं, आप एक बिखरी हुई क़ौम को मिला रहे हैं, आप हमारे बन्धुत्व की सीमाओं को फैला रहे हैं, भूले हुए भाइयों को गले मिला रहे हैं। इस काम की पवित्रता और गौरव को देखते हुए, कोई ऐसा कष्ट नहीं है, जिसका आप स्वागत न कर सकें। यह धन का मार्ग नहीं है, संभव है कि कीर्ति का मार्ग भी न हो, लेकिन आपके आत्मिक संतोष के लिए इससे बेहतर काम नहीं हो सकता। यही आपके बलिदान का मूल्य है। मुझे आशा है, यह आदर्श हमेशा आपके सामने रहेगा। आदर्श का महत्त्व आप खूब समझते हैं। वह हमारे रुकते हुए क़दम को आगे बढ़ाता है, हमारे दिलों से संशय और संदेह की छाया को मिटाता है और कठिनाइयों में हमें साहस देता है।

राष्ट्रभाषा से हमारा क्या आशय है, इसके विषय में भी मैं आपसे दो शब्द कहूँगा। इसे हिन्दी कहिये, हिन्दुस्तानी कहिये, या उर्दू कहिए, चीज़ एक है। नाम से हमारी कोई बहस नहीं। ईश्वर भी वही है, जो ख़ुदा है, और राष्ट्र भाषा में दोनों के लिए समान रूप से सम्मान का स्थान मिलना चाहिए। अगर हमारे देश में ऐसे लोगों की काफी तादाद निकल आये, जो ईश्वर को 'गाड' कहते हैं, तो राष्ट्र-भाषा उनका भी स्वागत करेगी। जीवित भाषा तो जीवित देह की तरह बराबर बनती रहती है। 'शुद्ध हिन्दी' तो निरर्थक शब्द है। जब भारत शुद्ध हिन्दू होता तो उसकी भाषा शुद्ध हिन्दी होती। जब तक यहाँ मुसलमान, ईसाई, फ़ारसी, अफ़गानी सभी जातियाँ मौजूद हैं, हमारी भाषा भी व्यापक रहेगी। अगर हिन्दी भाषा प्रान्तीय रहना चाहती है और केवल हिन्दुओं की भाषा रहना चाहती है, तब तो वह शुद्ध बनाई जा सकती है। उसका अङ्ग-भङ्ग करके उसका काया-कल्प करना होगा। प्रौढ़ से वह फिर शिशु बनेगी, यह असम्भव है, हास्यास्पद है। हमारे देखते-देखते सैकड़ों विदेशी शब्द भाषा में आ घुसे, हम उन्हें रोक नहीं सकते। उनका आक्रमण रोकने की चेष्टा ही व्यर्थ है। वह भाषा के विकास में बाधक होगी। वृक्षों को सींचा

और सुडौल बनाने के लिए पौधों को एक थूनी का सहारा दिया जाता है। आप विद्वानों का ऐसा नियन्त्रण रख सकते हैं कि अश्लील, कुरुचिपूर्ण, कर्णकटु, भद्दे शब्द व्यवहार में न आ सकें; पर यह नियंत्रण केवल पुस्तकों पर हो सकता है। बोल-चाल पर किसी प्रकार का नियंत्रण रखना मुश्किल होगा; मगर विद्वानों का भी अजीब दिमाग़ है। प्रयाग में विद्वानों और पण्डितों की सभा 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' में तिमाही, सेहमाही और त्रैमासिक शब्दों पर बरसों से मुबाहसा हो रहा है और अभी तक फ़ैसला नहीं हुआ। उर्दू के हामी 'सेहमाही' की ओर हैं, हिन्दी के हामी 'त्रैमासिक' की ओर, बेचारा 'तिमाही' जो सबसे सरल, आसानी से बोला और समझा जानेवाला शब्द है, उसका दोनों ही ओर से बहिष्कार हो रहा है। भाषा-सुन्दरी को कोठरी में बन्द करके आप उसका सतीत्व तो बचा सकते हैं, लेकिन उसके जीवन का मूल्य देकर। उसकी आत्मा स्वयं इतनी बलवान बनाइये, कि वह अपने सतीत्व और स्वास्थ्य दोनों ही की रक्षा कर सके। बेशक हमें ऐसे ग्रामीण शब्दों को दूर रखना होगा, जो किसी ख़ास इलाके में बोले जाते हैं। हमारा आदर्श तो यह होना चाहिये, कि हमारी भाषा अधिक-से-अधिक आदमी समझ सकें; अगर इस आदर्श को हम अपने सामने रखें, तो लिखते समय भी हम शब्द-चातुरी के मोह में न पड़ेंगे। यह ग़लत है, कि फ़ारसी शब्दों से भाषा कठिन हो जाती है। शुद्ध हिन्दी के ऐसे पदों के उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनका अर्थ निकलना पण्डितों के लिए भी लोहे के चने चबाना है। वही शब्द सरल है, जो व्यवहार में आ रहा है, इसमें कोई बहस नहीं कि वह तुर्की है, या अरबी, या पुर्तगाली। उर्दू और हिन्दी में क्यों इतना सौतिया-डाह है यह मेरी समझ में नहीं आता। अगर एक समुदाय के लोगों को 'उर्दू' नाम प्रिय है तो उन्हें उसका इस्तेमाल करने दीजिये। जिन्हें 'हिन्दी' नाम से प्रेम है वह हिन्दी ही कहें। इसमें लड़ाई काहे की? एक चीज़ के दो नाम देकर ख़्वामख़्वाह आपस में लड़ना और उसे इतना महत्त्व दे देना कि वह राष्ट्र की एकता

में बाधक हो जाय, यह मनोवृत्ति रोगी और दुर्बल मन की है। मैं अपने अनुभव से इतना अवश्य कह सकता हूँ, कि उर्दू को राष्ट्र-भाषा के स्टैण्डर्ड पर लाने में हमारे मुसलमान भाई हिन्दुओं से कम इच्छुक नहीं हैं। मेरा मतलब उन हिन्दू-मुसलमानों से है, जो क़ौमियत के मतवाले हैं। कट्टर-पन्थियों से मेरा कोई प्रयोजन नहीं। उर्दू का और मुस्लिम संस्कृति का कैम्प आज अलीगढ़ है। वहाँ उर्दू और फ़ारसी के प्रोफ़ेसरों और अन्य विषयों के प्रोफ़ेसरों से मेरी जो बात-चीत हुई, उससे मुझे मालूम हुआ कि मौलवियाऊ भाषा से वे लोग भी उतने ही बेज़ार हैं, जितने पण्डिताऊ भाषा से, और कौमी-भाषा-संघ आन्दोलन में शरीक होने के लिए दिल से तैयार हैं। मैं यह भी सुनता हूँ कि मुसलमानों का एक गिरोह हिन्दुओं से अलग रहने में ही अपना हित समझता है—हालाँकि उस गिरोह का ज़ोर और असर दिन-दिन कम होता जा रहा है—और वह अपनी भाषा को अरबी से गले तक ठूँस देना चाहता है, तो हम उससे क्यों झगड़ा करें? क्या आप समझते हैं, ऐसी जटिल भाषा मुसलिम जनता में भी प्रिय हो सकती है? कभी नहीं। मुसलमानों में वही लेखक सर्वोपरि हैं, जो आमफ़हम भाषा लिखते हैं। मौलवियाऊ भाषा लिखनेवालों के लिए वहाँ भी स्थान नहीं है। मुसलमान दोस्तों से भी मुझे कुछ अर्ज़ करने का हक़ है; क्योंकि मेरा सारा जीवन उर्दू की सेवकाई करते गुज़रा है और आज भी मैं जितनी उर्दू लिखता हूँ, उतनी हिन्दी नहीं लिखता, और कायस्थ होने और बचपन से फ़ारसी का अभ्यास करने के कारण उर्दू मेरे लिए जितनी स्वाभाविक है, उतनी हिन्दी नहीं है। मैं पूछता हूँ, आप हिन्दी को क्यों गरदनज़दनी समझते हैं? क्या आपको मालूम है, और नहीं है, तो होना चाहिये, कि हिन्दी का सबसे पहला शायर, जिसने हिन्दी का साहित्यिक बीज बोया (व्यावहारिक बीज सदियों पहले पड़ चुका था) वह अमीर खुसरो था? क्या आपको मालूम है, कम-से-कम पाँच सौ मुसलमान शायरों ने हिन्दी को अपनी कविता से धनी बनाया है, जिनमें कई तो चोटी

के शायर हैं ? क्या आपको मालूम है, अकबर और जहाँगीर और औरङ्गजेब तक हिन्दी कविता का जौक रखते थे और औरङ्गजेब ने ही आमों के नाम 'रसना-विलास' और 'सुधारस' रखे थे ? क्या आपको मालूम है, आज भी हसरत और हफीज जालन्धरी जैसे कवि कभी-कभी हिन्दी में तबाआजमाई करते हैं ? क्या आपको मालूम है हिन्दी में हजारों शब्द, हजारों क्रियाएँ अरबी और फारसी से आई हैं और ससुराल में आकर घर की देवी हो गई हैं ? अगर यह मालूम होने पर भी आप हिन्दी को उर्दू से अलग समझते हैं, तो आप देश के साथ और अपने साथ बेइन्साफी करते हैं। उर्दू शब्द कब और कहाँ उत्पन्न हुआ, इसकी कोई तारीखी सनद नहीं मिलती। क्या आप समझते हैं वह 'बड़ा खराब आदमी है' और वह 'बड़ा दुर्जन मनुष्य है' दो अलग भाषाएँ हैं ? हिन्दुओं को 'खराब' भी अच्छा लगता है, और 'आदमी' तो अपना भाई ही है। फिर मुसलमान को 'दुर्जन' क्यों बुरा लगे, और 'मनुष्य' क्यों शत्रु-सा दीखे ? हमारी क़ौमी भाषा में दुर्जन और सज्जन, उम्दा और खराब दोनों के लिए स्थान है, वहाँ तक, जहाँ तक कि उसकी सुबोधता में बाधा नहीं पड़ती। इसके आगे हम न उर्दू के दोस्त हैं, न हिन्दी के। मजा यह कि 'हिन्दी' मुसलमानों का दिया हुआ नाम है और अभी ५० साल पहले तक जिसे आज उर्दू कहा जा रहा है, उसे मुसलमान भी हिन्दी कहते थे। और आज 'हिन्दी' मरदूद है। क्या आपको नजर नहीं आता, कि 'हिन्दी' एक स्वाभाविक नाम है ? इङ्गलैण्डवाले इङ्गलिश बोलते हैं, फ्रांसवाले फ्रेंच, जर्मनीवाले जर्मन, फारसवाले फारसी, तुर्कीवाले तुर्की, अरबवाले अरबी, फिर हिन्दवाले क्यों न हिन्दी बोलें ? उर्दू तो न क़ाफ़िये में आती है, न रदीफ़ में, न बहर में, न वजन में। हाँ, हिन्दुस्तान का नाम उर्दूस्तान रखा जाय, तो बेशक यहाँ की क़ौमी भाषा उर्दू होगी। क़ौमी भाषा के उपासक नामों से बहस नहीं करते, वह तो असलियत से बहस करते हैं। क्यों दोनों भाषाओं का दोष एक नहीं हो जाता ? हमें दोनों ही भाषाओं में एक आम लुगात (कोष)

की जरूरत है, जिसमें आमफ़हम शब्द जमा कर दिये जायँ। हिन्दी में तो मेरे मित्र पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने किसी हद तक यह जरूरत पूरी कर दी है। इस तरह का एक लुग़त उर्दू में भी होना चाहिये। शायद वह काम क़ौमी-भाषा-संघ बनने तक मुल्तवी रहेगा। मुझे अपने मुसलिम दोस्तों से यह शिकायत है कि वह हिन्दी के आम-फ़हम शब्दों से भी परहेज करते हैं; हालाँकि हिन्दी में आमफ़हम फ़ारसी के शब्द आज़ादी से व्यवहार किये जाते हैं।

लेकिन, प्रश्न उठता है कि राष्ट्र-भाषा कहाँ तक हमारी जरूरतें पूरी कर सकती है? उपन्यास, कहानियाँ, यात्रावृत्तान्त, समाचार-पत्रों के लेख, आलोचना अगर बहुत गूढ़ न हो, यह सब तो राष्ट्र-भाषा में अभ्यास कर लेने से लिखे जा सकते हैं; लेकिन साहित्य में केवल इतने ही विषय तो नहीं हैं। दर्शन और विज्ञान की अनन्त शाखाएँ भी तो हैं, जिनको आप राष्ट्र-भाषा में नहीं ला सकते। साधारण बातें तो साधारण और सरल शब्दों में लिखी जा सकती हैं। विवेचनात्मक विषयों में यहाँ तक कि उपन्यास में भी जब वह मनोवैज्ञानिक हो जाता है, आपको मजबूर होकर संस्कृत या अरबी-फारसी शब्दों की शरण लेनी पड़ती है। अगर हमारी राष्ट्र-भाषा सर्वाङ्गपूर्ण नहीं है, और उसमें आप हर एक विषय, हर एक भाव नहीं प्रकट कर सकते, तो उसमें यह बड़ा भारी दोष है, और यह हम सभी का कर्तव्य है कि हम राष्ट्र भाषा को उसी तरह सर्वाङ्गपूर्ण बनावें, जैसी अन्य राष्ट्रों की सम्पन्न भाषाएँ हैं। यों तो अभी हिन्दी और उर्दू अपने थक रूप में भी पूर्ण नहीं है। पूर्ण क्या, अधूरी भी नहीं है। जो राष्ट्र-भाषा लिखने का अनुभव रखते हैं, उन्हें स्वीकार करना पड़ेगा कि एक-एक भाव के लिए उन्हें कितना सिर-मग़ज़न करना पड़ता है। सरल शब्द मिलते ही नहीं, मिलते हैं, तो भाषा में खपते नहीं, भाषा का रूप बिगाड़ देते हैं, खीर में नमक के डले की भाँति आकर मजा किरकिरा कर देते हैं। इसका कारण तो स्पष्ट ही है कि हमारी जनता में भाषा का ज्ञान बहुत ही थोड़ा है और आमफ़हम शब्दों की

संख्या बहुत ही कम है। जब तक जनता में शिक्षा का अच्छा प्रचार नहीं हो जाता, उनकी व्यावहारिक शब्दावली बढ़ नहीं जाती, हम उनके समझने के लायक भाषा में तात्विक विवेचनाएँ नहीं कर सकते। हमारी हिन्दी भाषा ही अभी सौ बरस की नहीं हुई, राष्ट्र-भाषा तो अभी शैशवावस्था में है, और फ़िलहाल यदि हम उसमें सरल साहित्य ही लिख सकें, तो हमको संतुष्ट होना चाहिये। इसके साथ ही हमें राष्ट्र-भाषा का कोष बढ़ाते रहना चाहिये। वही संस्कृत और अरबी-फ़ारसी के शब्द, जिन्हें देखकर आज हम भयभीत हो जाते हैं, जब अभ्यास में आ जायँगे, तो उनका हौआपन जाता रहेगा। इस भाषा विस्तार की क्रिया, धीरे-धीरे ही होगी। इसके साथ हमें विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के ऐसे विद्वानों का एक बोर्ड बनाना पड़ेगा, जो राष्ट्र-भाषा की ज़रूरत के क़ायल हैं। उस बोर्ड में उर्दू, हिन्दी, बँगला, मराठी, तमिल आदि सभी भाषाओं के प्रतिनिधि रखे जायँ और इस क्रिया को सुव्यवस्थित करने और उसकी गति को तेज़ करने का काम उनको सौंपा जाय। अभी तक हमने अपने मनमाने ढंग से इस आन्दोलन को चलाया है। औरों का सहयोग प्राप्त करने का यत्न नहीं किया। आपका यात्री-मंडल भी हिन्दी के विद्वानों तक ही रह गया। मुसलिम केन्द्रों में जाकर मुसलिम विद्वानों की हमदर्दी हासिल करने की उसने कोशिश नहीं की। हमारे विद्वान् लोग तो अँगरेज़ी में मस्त हैं। जनता के पैसे से दर्शन और विज्ञान और सारी दुनिया की विद्याएँ सीखकर भी वे जनता की तरफ़ से आँखें बन्द किये बैठे हैं। उनकी दुनिया अलग है, उन्होंने उपजीवियों की मनोवृत्ति पैदा कर ली है। काश उनमें भी राष्ट्रीय चेतना होती, काश वे भी जनता के प्रति अपने कर्तव्य को महसूस करते, तो शायद हमारा काम सरल हो जाता। जिस देश में जन-शिक्षा की सतह इतनी नीची हो, उसमें अगर कुछ लोग अँगरेज़ी में अपनी विद्वत्ता का सेहरा बाँध ही लें तो क्या? हम तो तब जानें, जब विद्वत्ता के साथ-साथ दूसरों को भी ऊँची सतह पर उठाने का भाव मौजूद हो। भारत में केवल अँगरेज़ीदाँ ही नहीं रहते। हज़ार में ९९९ आदमी

अंग्रेजी का अक्षर भी नहीं जानते। जिस देश का दिमाग विदेशी भाषा में सोचे और लिखे, उस देश को अगर संसार राष्ट्र नहीं समझता तो क्या वह अन्याय करता है? जब तक आपके पास राष्ट्र-भाषा नहीं, आपका राष्ट्र भी नहीं। दोनों में कारण और कार्य का सम्बन्ध है। राजनीति के माहिर अंग्रेज शासकों को आप राष्ट्र की हाँक लगाकर धोखा नहीं दे सकते। वे आपकी पोल जानते हैं और आपके साथ वैसा ही व्यवहार करते हैं।

अब हमें यह विचार करना है कि राष्ट्र-भाषा का प्रचार कैसे बढ़े। अफ़सोस के साथ कहना पड़ता है कि हमारे नेताओं ने इस तरफ मुज़रिमाना ग़फ़लत दिखाई है। वे अभी तक इसी भ्रम में पड़े हुए हैं कि यह कोई बहुत छोटा-मोटा विषय है, जो छोटे-मोटे आदमियों के करने का है, और उनके जैसे बड़े-बड़े आदमियों को इतनी कहाँ फ़ुरसत कि वह झंझट में पड़ें। उन्होंने अभी तक इस काम का महत्त्व नहीं समझा, नहीं तो शायद यह उनके प्रोग्राम की पहली पाँती में होता। मेरे विचार में जब तक राष्ट्र में इतना संगठन, इतना ऐक्य, इतना एकात्मपन न होगा कि वह एक भाषा में बात कर सके, तब तक उसमें यह शक्ति भी न होगी कि स्वराज्य प्राप्त कर सके। गौरमुमकिन है। जो राष्ट्र के अगुआ हैं, जो एलेक्शनों में खड़े होते हैं और फ़तह पाते हैं, उनसे मैं बड़े अदब के साथ गुज़ारिश करूँगा कि हज़रत इस तरह के एक सौ एलेक्शन आयँगे और निकल जायँगे, आप कभी हारेंगे, कभी जीतेंगे; लेकिन स्वराज्य आपसे उतनी ही दूर रहेगा, जितनी दूर स्वर्ग है। अंग्रेजी में आप अपने मस्तिष्क का गूदा निकालकर रख दें; लेकिन आपकी आवाज़ में राष्ट्र का बल न होने के कारण कोई आपकी उतनी परवाह भी न करेगा, जितनी बच्चों के रोने की करता है। बच्चों के रोने पर खिलौने और मिठाइयाँ मिलती हैं। वह शायद आपको भी मिल जावें, जिसमें आपकी चिल्ल-पों से माता-पिता के काम में विघ्न न पड़े। इस काम को तुच्छ न समझिये। यही बुनियाद है, आपका अच्छे-से-अच्छा गारा, मसाला, सीमेंट और बड़ी-से-बड़ी निर्माण-योग्यता जब तक यहाँ

खर्च न होगी, आपकी इमारत न बनेगी। घिरौंदा शायद बन जाय, जो एक हवा के झोंके में उड़ जायगा। दरअसल अभी हमने जो कुछ किया है, वह नहीं के बराबर है। एक अच्छा-सा राष्ट्र-भाषा का विद्यालय तो हम खोल नहीं सके। हर साल सैकड़ों स्कूल खुलते हैं, जिनकी मुल्क को बिलकुल जरूरत नहीं। 'उसमानिया विश्व-विद्यालय' काम की चीज है, अगर वह उर्दू और हिन्दी के बीच की खाई को और चौड़ी न बना दे। फिर भी मैं उसे और विश्व विद्यालयों पर तरजीह देता हूँ। कम-से-कम अँग्रेजी की गुलामी से तो उसने अपने को मुक्त कर लिया। और हमारे जितने विद्यालय हैं सभी गुलामी के कारखाने हैं, जो लड़कों को स्वार्थ का, जरूरतों का, नुमाइश का, अकर्मण्यता का गुलाम बनाकर छोड़ देते हैं और लुत्फ यह है, कि यह तालीम भी मोतियों के मोल बिक रही है। इस शिक्षा की बाजारी कीमत शून्य के बराबर है, फिर भी हम क्यों भेड़ों की तरह उसके पीछे दौड़े चले जा रहे हैं? अँग्रेजी शिक्षा हम शिष्टता के लिए नहीं ग्रहण करते। इसका उद्देश्य उदर है। शिष्टता के लिए हमें अँग्रेजी के सामने हाथ फैलाने की जरूरत नहीं। शिष्टता हमारी मीरास है, शिष्टता हमारी घुट्टी में पड़ी है। हम तो कहेंगे, हम जरूरत से ज्यादा शिष्ट हैं। हमारी शिष्टता दुर्बलता की हद तक पहुँच गई है। पच्छिमी शिष्टता में जो कुछ है, वह उद्योग और पुरुषार्थ है। हमने यह चीजें तो उसमें से छाँटी नहीं। छाँटा क्या, लोफरपन, अहंकार, स्वार्थान्धता, बेशर्मी, शराब और दुर्व्यसन। एक मूर्ख किसान के पास जाइये। कितना नम्र, कितना मेहमाँनवाज, कितना ईमानदार, कितना विश्वासी। उसी का भाई टामी है, पच्छिमी शिष्टता का सच्चा नमूना, शराबी, लोफर, गुण्डा, अक्खड़, हया से खाली। शिष्टता सीखने के लिए हमें अँग्रेजी की गुलामी करने की जरूरत नहीं। हमारे पास ऐसे विद्यालय होने चाहियें, जहाँ ऊँची-से-ऊँची शिक्षा राष्ट्र-भाषा में सुगमता से मिल सके। इस वक्त अगर ज्यादा नहीं तो एक तो ऐसा विद्यालय किसी केन्द्र-स्थान में होना ही चाहिये; मगर हम आज भी वही भेड़-चाल चले जा रहे हैं, वही

स्कूल, वही पढ़ाई। कोई भला आदमी ऐसा पैदा नहीं होता, जो एक राष्ट्र-भाषा का विद्यालय खोले। मेरे सामने दक्खिन से बीसों विद्यार्थी भाषा पढ़ने के लिए काशी गये; पर वहाँ कोई प्रबन्ध नहीं। वही हाल अन्य स्थानों में भी है। बेचारे इधर-उधर ठोकरें खाकर लौट आये। अब कुछ विद्यार्थियों की शिक्षा का प्रबन्ध हुआ है; मगर जो काम हमें करना है, उसके देखते नहीं के बराबर है। प्रचार के और तरीकों में अच्छे ड्रामों का खेलना अच्छे नतीजे पैदा कर सकता है। इस विषय में हमारा सिनेमा प्रशंसनीय काम कर रहा है, हालाँकि उसके द्वारा जो कुरुचि, जो गन्दापन, जो विलास-प्रेम, जो कुवासना फैलाई जा रही है, वह इस काम के महत्त्व को मिट्टी में मिला देती है। अगर हम अच्छे भावपूर्ण ड्रामे स्टेज कर सकें, तो उससे अवश्य प्रचार बढ़ेगा। हमें सच्चे मिशनरियों की जरूरत है और आपके ऊपर इस मिशन का दायित्व है। बड़ी मुश्किल यह है कि जब तक किसी वस्तु की उपयोगिता प्रत्यक्ष रूप से दिखाई न दे, कोई उसके पीछे क्यों अपना समय नष्ट करे? अगर हमारे नेता और विद्वान्, जो राष्ट्र-भाषा के महत्त्व से बेखबर नहीं हो सकते, राष्ट्र-भाषा का व्यवहार कर सकते तो जनता में उस भाषा की ओर विशेष आकर्षण होता। मगर, यहाँ तो अँग्रेजियत का नशा सवार है। प्रचार का एक और साधन है कि भारत के अँग्रेजी और अन्य भाषाओं के पत्रों को हम इस पर अमादा कर सकें कि वे अपने पत्र के एक दो कॉलम नियमित रूप से राष्ट्र-भाषा के लिए दे सकें। अगर हमारी प्रार्थना वे स्वीकार करें, तो उससे भी बहुत फायदा हो सकता है। हम तो उस दिन का स्वप्न देख रहे हैं, जब राष्ट्र-भाषा पूर्ण रूप से अँग्रेजी का स्थान ले लेगी, जब हमारे विद्वान राष्ट्र भाषा में अपनी रचनाएँ करेंगे, जब मद्रास और मैसूर, ढाका और पूना सभी स्थानों से राष्ट्र-भाषा के उत्तम ग्रन्थ निकलेंगे, उत्तम पत्र प्रकाशित होंगे और भू-मण्डल की भाषाओं और साहित्यों की मजलिस में हिन्दुस्तानी साहित्य और भाषा को भी गौरव का स्थान मिलेगा, जब हम मँगनी के सुन्दर कलेवर में नहीं, अपने फटे वस्त्रों में ही सही, संसार-

साहित्य में प्रवेश करेंगे। यह स्वप्न पूरा होगा या अन्धकार में विलीन हो जायगा, इसका फ़ैसला हमारी राष्ट्रभावना के हाथ है। अगर हमारे हृदय में वह बीज पड़ गया है, तो हमारी सम्पूर्ण प्राण-शक्ति से फले-फूलेगा। अगर केवल जिह्वा तक ही है, तो सूख जायगा।

हिन्दी और उर्दू-साहित्य की विवेचना का यह अवसर नहीं है, और करना भी चाहें, तो समय नहीं। हमारा नया साहित्य अन्य प्रांतीय साहित्यों की भाँति ही अभी सम्पन्न नहीं है। अगर सभी प्रांतों का साहित्य हिन्दी में आ सके, तो शायद वह सम्पन्न कहा जा सके। बँगला साहित्य से तो हमने उसके प्रायः सारे रत्न ले लिये हैं और गुजराती, मराठी साहित्य से भी थोड़ी-बहुत सामग्री हमने ली है। तमिल, तेलगु आदि भाषाओं से अभी हम कुछ नहीं ले सके; पर आशा करते हैं कि शीघ्र ही हम इस खजाने पर हाथ बढ़ायेंगे, बशर्ते कि घर के भेदियों ने हमारी सहायता की। हमारा प्राचीन साहित्य सारे का सारा काव्यमय है, और यद्यपि उसमें शृंगार और भक्ति की मात्रा ही अधिक है, फिर भी बहुत कुछ पढ़ने योग्य है। भक्त कवियों की रचनाएँ देखनी हैं, तो तुलसी और सूर और मीरा आदि का अध्ययन कीजिये, ज्ञान में कबीर अपना सानी नहीं रखता और शृंगार तो इतना अधिक है कि उसने एक प्रकार से हमारी पुरानी कविता को कलंकित कर दिया है। मगर, वह उन कवियों का दोष नहीं, परिस्थितियों का दोष है जिनके अन्दर उन कवियों को रहना पड़ा। उस जमाने में कला दरबारों के आश्रय से जीती थी और कलाविदों को अपने स्वामियों की रुचि का ही लिहाज करना पड़ता था। उर्दू कवियों का भी यही हाल है। यही उस जमाने का रंग था। हमारे रईस लोग विलास में मग्न थे, और प्रेम, विरह और वियोग के सिवा उन्हें कुछ न सूझता था। अगर कहीं जीवन का नक़शा है भी, तो यही कि संसार चंद-रोज़ा है, अनित्य है, और यह दुनिया दुःख का भण्डार है और इसे जितनी जल्दी छोड़ दो, उतना ही अच्छा। इस थोथे वैराग्य के सिवा और कुछ नहीं। हाँ, सूक्तियों और सुभाषितों की दृष्टि से वह अमूल्य है। उर्दू

की कविता आज भी उसी रंग पर चली जा रही है, यद्यपि विषय में थोड़ी-सी गहराई आ गई है। हिन्दी में नवीन ने प्राचीन से बिल्कुल नाता तोड़ लिया है। और आज की हिन्दी कविता भावों की गहराई, आत्म-व्यंजना और अनुभूतियों के एतबार से प्राचीन कविता से कहीं बढ़ी हुई है। समय के प्रभाव ने उसपर भी अपना रंग जमाया है और वह प्रायः निराशावाद का रुदन है, यद्यपि कवि उस रुदन से दुःखी नहीं होता ; बल्कि उसने अपने धैर्य और संतोष का दायरा इतना फैला दिया है कि वह बड़े-से-बड़े दुःख और बाधा का स्वागत करता है। और चूँकि वह उन्हीं भावों को व्यक्त करता है, जो हम सभी के हृदयों में मौजूद हैं, उसकी कविता में मर्म को स्पर्श करने की अतुल शक्ति है। यह ज़ाहिर है कि अनुभूतियाँ सबके पास नहीं होतीं और जहाँ थोड़े-से कवि अपने दिल का दर्द कहते हैं, बहुत-से केवल कल्पना के आधार पर चलते हैं।

अगर आप दुःख का विलास चाहते हैं, तो महादेवी, 'प्रसाद', पंत, सुभद्रा, 'लली', 'द्विज', 'मिलिन्द', 'नवीन', पं० माखनलाल चतुर्वेदी आदि कवियों की रचनाएँ पढ़िये। मैंने केवल उन कवियों के नाम दिये हैं, जो मुझे याद आये, नहीं तो और भी ऐसे कई कवि हैं, जिनकी रचनाएँ पढ़कर आप अपना दिल थाम लेंगे, दुःख के स्वर्ग में पहुँच जायँगे। काव्यों का आनन्द लेना चाहें, तो मैथिलीशरण गुप्त और त्रिपाठीजी के काव्य पढ़िये। ग्राम्य-साहित्य का दफ़ीना भी त्रिपाठीजी ने खोदकर आपके सामने रख दिया है। उसमें से जितने रत्न चाहे शौक से निकाल ले जाइए और देखिये उस देहाती गान में कवित्व की कितनी माधुरी और कितना अनूठापन है। ड्रामे का शौक़ है, तो लक्ष्मीनारायण मिश्र के सामाजिक और क्रांतिकारी नाटक पढ़िये। ऐतिहासिक और भावमय नाटकों की रुचि है, तो 'प्रसाद' जी की लगाई हुई पुष्पवाटियों की सैर कीजिये। उर्दू में सबसे अच्छा नाटक जो मेरी नज़र से गुज़रा वह 'ताज' का रचा हुआ 'अनारकली' है। हास्य-रस के पुजारी हैं, तो अन्नपूर्णानन्द की रचनाएँ पढ़िये। राष्ट्र-भाषा के सच्चे नमूने देखना चाहते हैं, तो जी० पी० श्रीवास्तव

के हँसानेवाले नाटकों की सैर कीजिये। उर्दू में हास्य-रस के कई ऊँचे दरजे के लेखक हैं और पंडित रतननाथ दर तो इस रङ्ग में कमाल कर गये हैं। उमर खैयाम का मजा हिन्दी में लेना चाहें तो 'बच्चन' कवि की मधुशाला में जा बैठिये। उसकी महक से ही आपको सरूर आ जायगा। गल्प-साहित्य में 'प्रसाद', 'कौशिक', जैनेन्द्र, 'भारतीय', 'अज्ञेय', वीरेश्वर आदि की रचनाओं में आप वास्तविक जीवन की झलक देख सकते हैं। उर्दू के उपन्यासकारों में शरर, मिर्जा रुसवा, सज्जाद हुसेन, नजीर अहमद आदि प्रसिद्ध हैं, और उर्दू में राष्ट्र-भाषा के सबसे अच्छे लेखक ख्वाजा हसन निजामी हैं, जिनकी क़लम में दिल को हिला देने की ताक़त है। हिन्दी के उपन्यास-क्षेत्र में अभी अच्छी चीजें कम आई हैं, मगर लक्षण कह रहे हैं कि नई पौध इस क्षेत्र में नये उत्साह, नये दृष्टिकोण, नये सन्देश के साथ आ रही है। एक युग की इस तरक़्क़ी पर हमें लज्जित होने का कारण नहीं है।

मित्रो, मैं आपका बहुत-सा समय ले चुका; लेकिन एक झगड़े की बात बाकी है, जिसे उठाते हुए मुझे डर लग रहा है। इतनी देर तक उसे टालता रहा; पर अब उसका भी कुछ समाधान करना लाजिम है। वह राष्ट्रलिपि का विषय है। बोलने की भाषा तो किसी तरह एक हो सकती है; लेकिन लिपि कैसे एक हो? हिन्दी और उर्दू लिपियों में तो पूरब-पच्छिम का अन्तर है। मुसलमानों को अपनी फारसी लिपि उतनी ही प्यारी है, जितनी हिन्दुओं को अपनी नागरी लिपि। वह मुसलमान भी जो तमिल, बँगला या गुजराती लिखते-पढ़ते हैं, उर्दू को धार्मिक श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं; क्योंकि अरबी और फारसी लिपि में वही अन्तर है, जो नागरी और बँगला में है, बल्कि उससे भी कम। इस फारसी लिपि में उनका प्राचीन गौरव, उनकी संस्कृति, उनका ऐतिहासिक महत्त्व सब कुछ भरा हुआ है। उसमें कुछ कचाइयाँ हैं, तो खूबियाँ भी हैं, जिनके बल पर वह अपनी हस्ती क़ायम रख सकी है। वह एक प्रकार का शार्टहैंड है, हमें अपनी राष्ट्र-भाषा और राष्ट्रलिपि का प्रचार मित्र-भाव से करना है, इसका पहला क़दम यह है कि हम

नागरी लिपि का संगठन करें। बँगला, गुजराती, तमिल, आदि अगर नागरी लिपि स्वीकार कर लें, तो राष्ट्रीय लिपि का प्रश्न बहुत कुछ हल हो जायगा और कुछ नहीं तो केवल संख्या ही नागरी को प्रधानता दिला देगी। और हिन्दी लिपि का सीखना इतना आसान है और इस लिपि के द्वारा उनकी रचनाओं और पत्रों का प्रचार इतना ज़्यादा हो सकता है कि मेरा अनुमान है, वे उसे आसानी से स्वीकार कर लेंगे। हम उर्दू लिपि को मिटाने तो नहीं जा रहे हैं। हम तो केवल यही चाहते हैं कि हमारी एक क़ौमी लिपि हो जाय। अगर सारा देश नागरी लिपि का हो जायगा, तो सम्भव है मुसलमान भी उस लिपि को क़ुबूल कर लें। राष्ट्रीय चेतना उन्हें बहुत दिन तक अलग न रहने देगी। क्या मुसलमानों में यह स्वाभाविक इच्छा नहीं होगी कि उनके पत्र और उनकी पुस्तकें सारे भारतवर्ष में पढ़ी जायँ? हम तो किसी लिपि को भी मिटाना नहीं चाहते। हम तो इतना ही चाहते हैं कि अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार नागरी में हो। मुसलमानों में राजनैतिक जागृति के साथ यह प्रश्न आप हल हो जायगा। यू० पी० में यह आन्दोलन भी हो रहा है कि स्कूलों में उर्दू के छात्रों को हिन्दी और हिन्दी के छात्रों को उर्दू का इतना ज्ञान अनिवार्य कर दिया जाय कि वह मामूली पुस्तकें पढ़ सकें और ख़त लिख सकें। अगर वह आन्दोलन सफल हुआ, जिसकी आशा है, तो प्रत्येक बालक हिन्दी और उर्दू दोनों ही लिपियों से परिचित हो जायगा। और जब भाषा एक हो जायगी तो हिन्दी अपनी पूर्णता के कारण सर्वमान्य हो जायगी और राष्ट्रीय योजनाओं में उसका व्यवहार होने लगेगा। हमारा काम यही है कि जनता में राष्ट्र-चेतनता को इतनी सजीव कर दें कि वह राष्ट्र-हित के लिए छोटे-छोटे स्वार्थों को बलिदान करना सीखे। आपने इस काम का बीड़ा उठाया है, और मैं जानता हूँ आपने क्षणिक आवेश में आकर यह साहस नहीं किया है; बल्कि आपका इस मिशन में पूरा विश्वास है, और आप जानते हैं कि यह विश्वास, कि हमारा पक्ष सत्य और न्याय का पक्ष है, आत्मा को कितना बलवान् बना देता है।

समाज में हमेशा ऐसे लोगों की कसरत होती है, जो खाने-पीने, धन बटोरने और जिन्दगी के अन्य धन्धों में लगे रहते हैं। यह समाज की देह है। उसके प्राण वह गिने-गिनाये मनुष्य हैं, जो उसकी रक्षा के लिए सदैव लड़ते रहते हैं; कभी अन्धविश्वास से, कभी मूर्खता से, कभी कुव्यवस्था से, कभी पराधीनता से। इन्हीं लड़न्तियों के साहस और बुद्धि पर समाज का आधार है। आप इन्हीं सिपाहियों में हैं। सिपाही लड़ता है, हारने जीतने की उसे परवाह नहीं होती। उसके जीवन का ध्येय ही यह है कि वह बहुतों के लिए अपने को होम कर दे। आपको अपने सामने कठिनाइयों की फौजें खड़ी नजर आयेंगी। बहुत सम्भव है, आपको उपेक्षा का शिकार होना पड़े। लोग आपको सनकी और पागल भी कह सकते हैं। कहने दीजिये। अगर आपका संकल्प सत्य है, तो आप में से हरेक एक-एक सेना का नायक हो जायगा। आपका जीवन ऐसा होना चाहिये कि लोगों को आप में विश्वास और श्रद्धा हो। आप अपनी बिजली से दूसरों में भी बिजली भर दें, हर एक पन्थ की विजय उसके प्रचारकों के आदर्श जीवन पर ही निर्भर होती है। अयोग्य व्यक्तियों के हाथों में ऊँचे-से-ऊँचा उद्देश्य भी निंद्य हो सकता है। मुझे विश्वास है, आप अपने को अयोग्य न बनने देंगे

[दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा, मद्रास के चतुर्थ उपाधिवितरणोत्सव के अवसर पर, २९ दिसम्बर, १९३४ ई० को दिया गया दीक्षान्त भाषण]